नयामृतम्

सं: [redacted]

मुनिश्री वैराग्यरतिविजयजी

श्री विजयमहोदयसूरिग्रंथमाला - ४

नयामृतम्

❀ संपादक ❀

तपागच्छाधिराज महामहिम आचार्यदेव

श्रीमद् विजयरामचंद्रसूरीश्वरजी म.सा.के शिष्य

मुनिश्री वैराग्यरतिविजयजी

❀ लाभार्थी ❀

शेठ भेरूलालजी कनैयालालजी कोठारी रिलि. ट्रस्ट

चंदनबाला - (वालकेश्वर)

मुंबई.

श्रीविजयमहोदयसूरिग्रंथमाला-४

ग्रन्थनाम : नयामृतम्

संपादक : मुनिश्री वैराग्यरतिविजयजी

प्रकाशक : प्रवचन प्रकाशन, पूना

आवृत्ति : प्रथम, २००२

मूल्य : रु. ७०.००

© : PRAVACHAN PRAKASHAN, 2002

प्राप्तिस्थान

पूना : भूपेश भायाणी
४८८, रविवार पेठ,
पूना-४११००२
फोन : ०२०-४४५३०४४

नवसारी : भरतभाई मफतलाल शाह
डीएनआर डायमंड्स्,
आशानगर, बोम्बे हाऊस के पास,
नवसारी-३९६४४५ (गुजरात)
फोन : ०२६३७-५९५९१

अमदावाद : राजेन्द्रभाई घेलाभाई शाह
८, भावि एवेन्यू, मर्चंट पार्क सोसा.
पालडी, अमदावाद-३८०००७
फोन : ०७९-६६० २३ ९३

मुद्रण : राज प्रिन्टर्स, पूना

टाइपसेटिंग : देवराज ग्राफिक्स, अमदावाद-९ फोन : ०७९-६४६ ०८ २३

प्रकाशकीय

तपागच्छाधिराज महामहिम आचार्यदेव **श्रीमद्विजय रामचंद्र सूरीश्वरजी** महाराजा के प्रधान पट्टधर वर्तमानगच्छाधिपति वात्सल्यमहोदधि पूज्यपाद आचार्यदेव **श्रीमद्विजयमहोदयसूरीश्वरजीमहाराजा** के पावन उपकारो की स्मृति हेतु '**प्रवचन-प्रकाशन**' की ओर से '**आचार्यश्रीविजयमहोदयसूरीश्वरजी ग्रंथमाला**' का प्रारंभ किया गया है ।

इस ग्रंथमाला के मुख्य प्रेरक प्रवचन-प्रभावक पूज्यआचार्यदेवश्रीमद् **विजय हेमभूषणसूरीश्वरजी म.सा.** है । पूज्यपाद स्वर्गीय सूरिदेव के शिष्यरत्न प्रवचनकार बंधुबेलडी पूज्य **मुनिश्रीवैराग्यरतिविजयजी म.सा.** एवं पूज्य **मुनिश्रीप्रशमरति-विजयजी म.सा.** इस ग्रंथमाला के प्रधान संपादक है ।

'**नयामृतम्**' यह ग्रंथमाला का चतुर्थ पुष्प है ।

श्री भेरुलालजी कनैयालालजी कोठारी रिलि. ट्रस्ट, मुंबई (चंदनबाला) ने उदारता पूर्वक ज्ञानराशि का सद्व्यय करके यह ग्रंथ प्रकाशित किया है । एतदर्थ शतशः धन्यवाद ।

ज्ञानराशि के व्यय से प्रकाशित इस पुस्तक का उपयोग करने से पहले गृहस्थवर्ग उचित मूल्य का प्रदान अवश्य करे ऐसी विनंती है ।

प्रवचन प्रकाशन

परमपूज्य तपागच्छाधिराज

आचार्यदेवेश **श्रीमद्विजय रामचन्द्र सूरीश्वरजी** महाराजा के

प्रधानपट्टप्रभावक सुविशालगच्छाधिपति पूज्यपाद
आचार्यदेव **श्रीमद्विजय महोदयसूरीश्वरजी महाराजा** एवं
प्रवचन-प्रभावक पूजनीय

आचार्यदेव श्रीमद् विजय हेमभूषण सूरीश्वरजी म.सा. की
पावन प्रेरणा से

शेठ श्री भेरुलालजी कनैयालालजी रिलि. ट्रस्ट

चंदनबाला (वालकेश्वर)

: मुंबई :

ने

ज्ञानि राशि के सद्व्यय से

'नयामृतम्' ग्रन्थ

प्रकाशित करने का लाभ लिया है

आपकी श्रुतभक्ति की हार्दिक अनुमोदना

: प्रवचन-प्रकाशन :

पूना

समर्पण

एक हजार से भी ज्यादा

श्रमण-श्रमणी वृंदके

योगक्षेमकारक

कलिकाल के सुधर्मास्वामी

वात्सल्यनिधि

सुविशालगच्छाधिपति

आचार्यदेव श्रीमद्

विजयमहोदयसूरीश्वरजीमहाराजा के

पावन करकमलों में

अनुक्रमः

प्राक्कथनम् VII

आमुख IX

(१) नयानुयोगः .... श्री आर्यरक्षित सूरिजी १

(२) नयकर्णिका .... महो. श्री विनयविजयजी ७

(३) नयरहस्यम् .... महो. श्री यशोविजयजी ११

(४) अनेकान्त-व्यवस्था .... महो. श्री यशोविजयजी २१

(५) नयाधिगमः .... वाचकश्री उमास्वातिजी ४१

(६) नयोपदेशः .... महो. श्री यशोविजयजी

.... वृत्ति :- आचार्यश्री भावप्रभसूरिजी ४७

(७) नयपरिच्छेदः .... श्रीवादीदेवसूरिजी ७३

(८) नयप्रकाशस्तवः .... पंडित श्रीपद्मसागरगणी ८५

(९) नयचक्रालापपद्धतिः .... पंडितश्री देवसेनगणी १२३

(१०) नयचक्रसारः .... श्री देवचन्द्रजी १३८

प्राक्कथनम्

त्रिभुवनगुरोः श्रीवीरविभोः परमोपकारिण्यस्मिन् धर्मशासने तत्त्वानामधिगमस्यानेके मार्गाः प्रदर्शिताः सन्ति। तेषु श्रीतत्त्वार्थाधिगमशास्त्रे '**प्रमाणनयैरधिगमः** ।। १-६।। सूत्रेऽतिशयेन बोधदायकौ द्वौ मार्गौ पूर्वधरमहापुरुषवाचकवर्योमास्वातिमहर्षिभिः प्रदर्शितौ स्तः ।

आसन्नोपकारि-वीरविभोर्धर्मशासने तत्त्वबोधकयोः प्रमाणनयमार्गयोः प्रकाशनार्थं सुस्पष्टबोधार्थं च श्रीगणधरदेवाननुसृत्य श्रीउमास्वातिवाचकवर्यैः, श्रीसिद्धसेनदिवाकरसूरिभिः, श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणैः, कलिकालसर्वज्ञ-श्रीहेमचन्द्रसूरिभिः, १४४४ ग्रन्थसौधसूत्रधारैः श्रीहरिभद्रसूरिभिः, महोपाध्याय-यशोविजयगणिवरैः, महोपाध्याय-विनयविजयगणिवरैः, पण्डित-पद्मसागरगणिवरैः सुबोधदायका ग्रन्था विरचिताः सन्ति ।

तान् ग्रन्थान् प्रठन्तः पाठयन्तश्च न्याय-व्याकरण-काव्य-कोष-छन्दोऽलङ्कारादिविषयेषु सुनैपुण्यधारका जैनेतरविद्वांसोऽपि जिनशासनस्य स्याद्वादसिद्धान्तं प्रति नतमस्तका बभूवुः भवन्ति भविष्यन्ति च । जिनशासनस्य तत्त्वव्यवस्थामतीतकाले प्रणेमुः वर्तमानकाले प्रणमन्ति भविष्यत्काले प्रणमिष्यन्ति च । केषामपि जैनतत्त्वव्यवस्थाया विघटनस्य सामर्थ्यं न कदाचिदपि समभूत् । अत एव कथ्यते '**अप्रतिहतं जिनशासनम्**' । तेषामेव श्रीउमास्वातिवाचकादि-पूर्वपुरुषाणां तत्त्वमार्गानुसरणं कृत्वाऽनन्तोपकारि-अनन्तकरुणासागर-चरमतीर्थपति-श्रीवीरविभूनां सप्तसप्ततितमे पट्टे विराजितानां परमशासनप्रभावकाणां सुविशालगच्छाधिपतीनां दीक्षादानवीराणां सिद्धान्तनिष्ठानामनुपमपुण्यनिधीनां व्याख्यानवाचस्पतीनां पूज्यपादानामाचार्यदेव **श्रीमद्विजयरामचन्द्रसूरीश्वराणां** शिष्यरत्नेन विद्वद्वर्येण मुनिना **वैराग्यरतिविजयेनो**पर्युक्तमहापुरुषाणां ग्रन्थराशिमवलोक्य तेषां ग्रन्थानां शब्दार्थं

वाक्यार्थं महावाक्यार्थमैदंपर्यार्थं च प्रविचार्य '**नयामृत**'नाम्नो ग्रन्थरत्नस्य संकलनं कृतमस्ति ।

लघुवयसापि तेन मुनिना व्याकरण-न्याय-काव्य-कोश-छन्दोऽलङ्कारादि विषयाणां गहनतममध्ययनं कृतं वर्तते । स्वगुरूणां समुदायवर्त्याचार्यादि मुनिवराणां च कृपाऽपि लब्धा तेन । मुनिवरस्यास्य श्रुतोपासनायां सतीर्थ्यमुनि-**प्रशमरतिविजय** आदीक्षाकालात् साहाय्यं करोति । तस्यापि मुनिसत्तमस्यानेक-विषयेषु क्षयोपशमस्तीव्रतमस्तीक्ष्णतमश्चास्ति । अभिन्नहृदयौ इव तौ मुनिवरौ संयम-स्वाध्याय-परार्थकरण-प्रवचनप्रदानादिषु सदैव निमग्नौ स्तः ।

अस्य ग्रन्थस्य विषयविस्तारोऽत्र मया न क्रियते यद्-गहनविषयस्यास्य ग्रन्थस्य ग्रन्थकारेण सुगमरीत्याऽऽलेखनं कृतमस्ति । वाचका विद्वांसो वाचनमात्रेणैव विषयामृतस्य माधुर्यं प्राप्स्यन्ति । देव-गुरूणां परमकृपया स्वाध्यायरसिकोऽयं मुनिः श्रुतामृतं पायं पायं बालजीवान् बोधदायकानां विदुषामानन्ददायकानां च ग्रन्थरत्नानां सर्जनं करोतु-इत्याशंसेऽहम् ।

विजयमित्रानन्दसूरिः

वि.सं. २०५७ प्र. आश्विन शुक्ला १३ रविवासरे ॥

आमुख

श्री जैनशासन में आचार्य भगवंतों ने तत्त्व को यथार्थ रूप से समझने के दो उपाय दिखाये है । प्रमाण और नय । तत्त्वार्थसूत्र में वाचक श्री उमास्वातिजी भगवंतने नयो को प्रमाण के समकक्ष स्थान दिया है ।[१] प्रमाण की तरह नय भी तत्त्वार्थ के अधिगम के उपाय है । दर्शनशास्त्र में परीक्षा के लिये 'प्रमाण' को अत्यंत आवश्यक माना गया है ।[२] प्रमाण जहाँ वस्तुतत्त्व की परीक्षा में उपयोगी है वहीं नय वस्तुतत्त्व के सूक्ष्म-सूक्ष्मतम स्वरूपको समझने में सहायक बनते है ।

प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही अनन्तधर्मात्मक है । वस्तुतत्त्व के अनन्त धर्मो का एक साथ ज्ञान करना छद्मस्थ की सीमित ज्ञान शक्ति से परे है । छद्मस्थ ज्ञाता का प्रत्येक बोध एवं प्रत्येक वचन नय की सहायता से ही बोधजनक होता है । इसीलिये कहा गया है कि - 'जितने नयवाद है उतने ही वचनपथ है'[३] । अतएव वस्तुतत्त्व के विभिन्न पहलुओं से यथातथ्य अवगत होने के लिये नयज्ञान अतीव आवश्यक है ।

अनन्तधर्मात्मक वस्तुतत्त्व के किसी एक धर्म का प्राधान्येन अभिप्राय रखनेवाली दृष्टि 'नय' कहलाती है । सामान्यतः नय के सात प्रकार है ।

नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय, एवंभूतनय.

---

१. प्रमाणनयैरधिगमः ।। १ ।।

२. कः पुनरयं न्यायः ? प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः ।। (न्यायसूत्रभाष्यम्)

३. जावइया नयवाया तावइया वयणपहा मुणेयव्वा ।
जावइया वयणपहा तावइया चेव परसमया ।। (सन्मति प्रक०)

(१) नैगम नय :

नैगम नय, वस्तुतत्त्व के विभिन्न अंशों को गौणमुख्यभाव से ग्रहण करने वाली दृष्टि है । यह अर्थग्राही नय है । बहुधा लोक में प्रचलित औपचारिक व्यवहार इसी नय के आधार पर प्रवृत्त होता है । पंकज नाम के फूल का अन्य फूलो पर उपचार करना नैगम नय से संभव होता है ।

(२) संग्रह नय :

संग्रह नय वस्तुतत्त्व के सत् अथवा अनुस्यूत धर्मका संग्रह करता है । आकारादि से विभिन्न पदार्थो में समानता और एकता ढूंढना संग्रह नय का कार्य है । 'जातौ एकवचनं' जैसे न्याय संग्रहनय की दृष्टि है । समूहान्तर्गत प्रत्येक पंकजो को एक रूपसे पहचानना संग्रह नय है । यह भी अर्थग्राही नय है । विशेषत: द्रव्य अंशका ग्राहक है । (द्रव्य = समवायि कारण)

(३) व्यवहार नय :

लोक में प्रचलित अनौपचारिक व्यवहार, व्यवहार नय की दृष्टि है । यह भी अर्थग्राही नय है । इस नय के अभिप्राय से अतीतकाल में नष्ट और अद्यापि अनुत्पन्न पंकज का भी पंकज पद से व्यवहार होता है ।

(४) ऋजुसूत्र नय :

वस्तुतत्त्व के वर्तमान और स्वकीय (अनुपचरित) स्वरूप का ग्रहण करने वाली दृष्टि ऋजुसूत्र नय है । यह भी अर्थग्राही नय है । लेकिन सिर्फ पर्याय ही इसके विषय बनते है । इस नय के अभिप्राय से अतीत में विनष्ट और अद्यापि अनुत्पन्न पंकज वर्तमान काल में विद्यमान नहीं है इसलिये अ-वस्तु है । पंकज वही जो वर्तमान में दृश्यमान है ।

परवर्ती तीन नय शब्दप्रधान होने से शब्दग्राही नय कहलाते है ।

(५) शब्द नय :

शब्द नय हरेक शब्दो में हरेक अर्थकी वाचकता शक्ति का स्वीकार करता है । 'सर्वः सर्वार्थवाचकः' इस नय की उद्घोषणा है । विशेषतः विभिन्न शब्द एक अर्थ के वाचक होते है और विभिन्न अर्थ एक शब्द से वाच्य बन सकते है यह बात शब्द नय को मान्य है । पंकज-कुमुद-कमल इत्यादि शब्द एक ही अर्थ के वाचक है । यह इस नय का अभिप्राय है ।

(६) समभिरूढ नय :

प्रत्येक शब्द को अपनी स्वतंत्र वाचकता शक्ति है, यह दृष्टि समभिरूढ नय की है । व्युत्पत्त्यर्थ से भले ही पंके जायमान अन्य पदार्थ हो, लेकिन पंकज पुष्पविशेष का ही वाचक है । इस तरह कुमुद उस को कहेंगे जो रात्रि को आनंदित करे । पंकज-कुमुद-कमल ये प्रत्येक पद की अर्थवाचकता शक्ति भिन्न भिन्न है ।

(७) एवंभूत नय :

प्रत्येक वस्तु का अपना धर्म और अपनी क्रिया होती है ।

वस्तु के होने के उद्देश्य को 'अर्थ' कहते है । अर्थपूर्ति के लिये वस्तु की वर्तना को अर्थक्रिया कहते है । वस्तु का नामाभिधान भी इसी अर्थक्रिया के आधार पर होता है । एवंभूत नय का अभिप्राय है कि वस्तु जब अपनी नियत अर्थक्रिया में प्रवर्तमान है तब ही उसके वाचक शब्द का प्रयोग सान्वर्थ हो सकता है, अन्यथा नहीं । पंकजपद पंकजनामक पुष्पविशेषरूप अर्थ का वाचक उसी समय होगा जब वह पंके जायमान हो । उससे पूर्व या पश्चात् वह पंकजपदवाच्य नहीं है । यह नय तमाम औपचारिकता को पीछे रख के शुद्ध वस्तुतत्त्व को देखता है । इसीलिये सूक्ष्मतम है ।

नयो की यह संक्षिप्त तथा स्थूल परिभाषा है । सातो नय भले ही एक दूसरे से भिन्न हो, या फिर विरुद्ध लगते हो लेकिन अन्तर्गत रूप से प्रत्येक

नय दूसरे नयके साथ अपेक्षा संबंध रखता है । उसीको सापेक्षभाव कहते है । सापेक्षभाव के अभाव में नय सु-नय न रहते हुए नयाभास हो जाता है ।

अपनी दृष्टि का प्राधान्य रखते हुए भी विरोधी दृष्टि का स्वीकार करना, उसको नकार न देना - सापेक्षभाव है । यह सापेक्षभाव ही नयवाद का हार्द है । सापेक्षता ही संवादिता की जनेता है । रागद्वेष के विलय स्वरूप माध्यस्थभाव की संप्राप्ति संवादिता से होती है । जिसमें मुख्य हेतु सापेक्ष दृष्टिकोण है । हरेक दर्शन यदि प्रमाण के साथ नय को जोड दे तो अपने आप विरोध खत्म हो जायेगा और वस्तुतत्त्व का यथार्थ और संपूर्ण दर्शन हो सकेगा । जरूरी है कि हरेक दर्शन नयो की उपयुक्तता का स्वीकार करे ।

'नयामृतम्' नाम के इस संपादन में संक्षेप में नयो के विचारों का संकलन करके संगृहीत किया है ।

सरलता से नयो का प्राथमिक स्वरूप समझने में यह संग्रह निःशंक सहायक साबित होगा । क्योंकि इस संग्रह में दस ग्रंथों के नयविचार का संकलन किया है ।

'नयामृतम्' का प्रथम पर्व है अनुयोगद्वारसूत्रान्तर्गत **'नयानुयोग'** । नयविषयक यह प्राचीनतम और आगमिक सूत्र है । पश्चाद्वर्ति सकल रचयिताओने इसी सूत्र के आधार पर नय को व्याख्यायित किया है । पू. आचार्यश्री हरिभद्र सू. कृत विवृत्ति भी यहां सामिल की है ।

नयामृतम् का द्वितीय पर्व **'नयकर्णिका'** ग्रंथ है । जिसके रचयिता महोपाध्याय श्री विनयविजयजी गणिवर है । केवल २३ श्लोक की इस लघुकृति में अति सरलता से नयो का स्वरूपवर्णन किया गया है ।

नयामृतम् का तृतीय पर्व **'नयरहस्य'** है । इसके कर्ता महोपाध्याय श्री यशोविजयजी गणिवर है । नयरहस्य में श्री अनुयोगद्वारसूत्रम् (श्रीआर्यरक्षितसूरिजी) तथा तत्त्वार्थसूत्रभाष्यम् (वाचक श्रीउमास्वातिजी) में उपवर्णित नयपदार्थ के आधार पर नयो का विवरण किया गया है ।

प्रस्तुत संपादनमें परीक्षाग्रंथ को छोडकर सिर्फ उद्देश-लक्षण-विभाग ग्रंथ का ही संग्रह है ।

नयामृतम् का चतुर्थ पर्व है **'अनेकांत व्यवस्था प्रकरणम्'** । इसके रचयिता भी महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी गणिवर है । इसमें श्रीविशेष-आवश्यकभाष्यम् (श्री जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण) और श्रीसन्मतितर्कप्रकरणम् (श्री सिद्धसेन-दिवाकरसूरिजी) के आधार पर नयोकी व्यवस्था की गई है । प्रस्तुत संपादन में उद्देश-लक्षण-विभाग ग्रन्थ के साथ अत्यल्प परीक्षा ग्रन्थ को स्थान दिया गया है ।

वांचकवर्य श्री उमास्वातिजी रचित (तत्त्वार्थाधिगम सूत्र) **'नयाधिगमः सूत्र'** नयामृतम् का पंचम पर्व है । प्रथमाध्याय के ३४-३५वे सूत्र और उनका भाष्यांश यहां उध्धृत किया है ।

'नयोपदेश' ग्रंथ, नयामृतम् का षष्ठ पर्व है । इसके कर्ता भी महोपाध्याय श्री यशोविजयजी गणिवर है । १४४ श्लोकप्रमाण इस ग्रंथमें नयो का सूक्ष्म एवं सुविस्तृत विवेचन है । इस ग्रंथ की नयामृततत्त्वतरंगिणी नामकी स्वोपज्ञ वृत्ति नयो के आकर ग्रंथ समान है । नयामृतम् में आचार्य श्रीभावप्रभसूरिजी कृत लघुवृत्ति के साथ नयोपदेश प्रगट हो रहा है ।

पू. आचार्य श्रीवादीदेवसूरिजी विरचित प्रमाणनयतत्त्वालोकः सूत्रका सप्तम **नयपरिच्छेद,** 'नयामृतम्' का सप्तम पर्व है । इसमें नय, और नयाभासको सोदाहरण समझाया है ।

नयामृतम् का अष्टम पर्व है **'नयप्रकाशस्तवः'** (सवृत्ति) । इसके कर्ता उपाध्याय श्रीधर्मसागरजी गणिवर के शिष्यरत्न पंडित श्रीपद्मसागरजी गणी है । वि.सं. १६७३ में इस लघुग्रंथ की रचना हुई है । नयप्रकाशस्तवः ९ श्लोक प्रमाण है एवं वृत्ति ७४० श्लोक प्रमाण है । इस लघुकृति में प्रमुखतया नयो की व्याख्या एवं एकांत दृष्टि की संक्षेप में परीक्षा की गई है । यह ग्रंथ पहले श्री हेमचन्द्राचार्य ग्रंथावली (पाटण) नं. ६ की ओर से सं. १९७५ में प्रकाशित हुआ था । श्रावक पंडित श्रीवीरचंद्र और श्रीप्रभुदास ने इसका संशोधन किया था ।

नयामृतम् के नवम् पर्व में पं. श्रीदेवसेनगणि कृत **'नयचक्रालापपद्धतिः'** नामक एक लघुलेखग्रन्थ समाविष्ट है। कर्ताने इस में सात नय, तीन उपनय एवं विविध दृष्टिकोण से नयो को सोदाहरण समझाया है । विशेषतः आध्यात्मिक दृष्टिकोण से व्यवहार एवं निश्चय नय की विवक्षा इस कृति का महत्त्वपूर्ण अंश है । एक प्राचीन हस्तलिखित प्रत में यह कृति उपलब्ध हुई है ।

श्रीमद् देवचन्द्रजी रचित **'नयचक्रसारः'** इस ग्रन्थ का नयाधिकार; 'नयामृतम्' का अंतिम पर्व है । श्रीविशेषावश्यकभाष्यम् (श्री जिनभद्र गणिक्षमाश्रमण) तथा स्याद्वाद-रत्नाकर (श्रीवादीदेवसूरीश्वरजी म.) में वर्णित नय के स्वरूप का इसमें विवरण किया गया है ।

इस प्रकार, सात प्रकार के नयों का सार समझने के लिये नयविषयक दस ग्रन्थों का अमृत प्रस्तुत संपादन में समाहित किया है । इस सम्पादन को गीतार्थमूर्धन्य, धर्मतीर्थप्रभावक पूजनीय आचार्यदेव श्रीमद् **विजय मित्रानंदसूरीश्वरजी** म.सा.ने अपनी शास्त्रपूत सूक्ष्मैक्षिका से संशुद्ध किया है और अपनी ओर से 'प्राक्कथनम्' प्रेषित करके ग्रंथ का गौरव बढ़ाया है ।

यह छोटा संग्रह नयसागर में प्रवेश करनेवालों को उपकारक बने और नयों के बोध द्वारा तत्त्वो का यथार्थ निश्चय करके सभी अपनी दृष्टि निर्मल बनाये यही शुभकामना ।

वैराग्यरतिविजय ।

आराधना भवन | आषाढ बहुला १३ + १४
मंचर (पूणे) | (गुरुदेव की दसवी स्वर्गारोहण तिथि)

॥ नयानुयोगः ॥

(श्री अनुयोगद्वारसूत्रम्)

श्री आर्यरक्षितसूरिजी

।। नयानुयोगः ।।

से किं तं णए ? सत्त मूलणया पण्णत्ता । तंजहा-णेगमे संगहे ववहारे उज्जुसुए सद्दे समभिरूढे एवंभूते ।

[1]**(वि.) से किं तं नये** इत्यादि । शब्दार्थः पूर्ववत् । सप्त मूलनयाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-नैगम इत्यादि ।

तत्थ-

णेगेहिं माणेहिं मिणइ त्ती णेगमस्स य णिरुत्ति ।
सेसाणं पि नयाणं लक्खणमिणमो सुणह वोच्छं ।।१३६।।

(वि.) तत्थ णेगेहिं ति, न एकं नैकम्, प्रभूतानीत्यर्थः, तैः कैः ? मानैः महासत्ता-सामान्य-विशेषज्ञानैर्मिमीते मिनोतीति वा नैकम इति, इयं नैकमस्य

१. श्री हरिभद्रसू. कृत विवृतिः ।

निरुक्तिः । निगमेषु वा भवो नैगमः, निगमाः पदार्थपरिच्छेदाः । तत्र सर्वत्र सदित्येवमनुगताकारा (वबोधहेतुभूतां महासत्तामिच्छति अनुवृत्त-व्यावृत्ता)-वबोधंहेतुभूतं च सामान्यविशेषं द्रव्यत्वादिव्यावृत्तावबोधहेतुभूतं च नित्यद्रव्यवृत्तिमन्तं विशेषम् । आह- इत्थं तर्हि अयं नैगमः सम्यग्दृष्टिरेवास्तु, सामान्यविशेषाभ्युपगमपरत्वात्, साधुवदिति, नैतदेवम्, सामान्य-विशेषवस्तूनामत्यन्तभेदाभ्युपगमपरत्वात् तस्येति । आह च भाष्यकारः-

जं सामण्णविसेसे परोप्परं वत्थुतो य सो भिण्णे ।
मण्णइ अच्चंतमओ मिच्छद्दिट्ठी कणादो व्व ।।१।। (विशेषाश्यकभा० २१९४)

दोहि वि णएहिं णीयं सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्तं ।
जं सविसयप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णणिरवेक्खा ।।२।।
(विशेषाश्यकभा० २१९५, सन्मति०का० ३ गा० ४९)

अथवा निलयन-प्रस्थक-ग्रामोदाहरणेभ्योऽधःप्रतिपादितेभ्यः खल्वयमवसेय इत्यलं प्रसङ्गेन । गमनिकामात्रमेतत् । **सेसाणमित्यादि,** शेषाणामपि नयानां सङ्ग्रहादीनां लक्षणमिदं शृणुत, वक्ष्ये अभिधास्ये इत्ययं गाथार्थः ।

संगहियपिंडियत्थं संगहवयणं समासओ बेंति ।
वच्चइ विणिच्छियत्थं ववहारो सव्वदव्वेसुं ।।१३७।।

(वि.) संगहिय गाहा । आभिमुख्येन गृहीतः उपात्तः सङ्गृहीतः, पिण्डितः एकजातिमापन्नः अर्थः विषयो यस्य तत् सङ्गृहीतपिण्डितार्थं सङ्ग्रहस्य वचनं समासतः सङ्क्षेपतः ब्रुवते तीर्थकर-गणधरा इति । एतदुक्तं भवति- सामान्यप्रतिपादनपरः खल्वयं सदित्युक्ते सामान्यमेव प्रतिपद्यते, न विशेषम् । तथा च मन्यते- विशेषाः सामान्यतोऽर्थान्तरभूताः स्युः ? अनर्थान्तरभूता वा ? यद्यर्थान्तरभूताः न सन्ति सामान्यादर्थान्तरत्वात्, खपुष्पवत् । अथानर्थान्तरभूताः, सामान्यमात्रं तदव्यतिरिक्तत्वात्, स्वरूपवत् । पर्याप्तं व्यासेन, उक्तः सङ्ग्रहः ।

वच्चइ इत्यादि । व्रजति इच्छति निर् आधिक्ये, चयनं चय:, अधिकश्चयो निश्चय: सामान्यम्, विगतो निश्चयो विनिश्चय: विगतसामान्यभाव:, तदर्थं तन्निमित्तम् सामान्याभावायेति भावना, व्यवहारो नय:, क्व ? सर्वद्रव्येषु सर्वद्रव्यविषये । तथा च विशेषप्रतिपादनपर: खल्वयं सदित्युक्ते विशेषानेव घटादीन् प्रतिपद्यते, तेषां व्यवहारहेतुत्वात्, न तदतिरिक्तं सामान्यम्, तस्य व्यवहारापेतत्वात् । तथा च सामान्यं विशेषभ्यो भिन्नम् अभिन्नं वा स्याद् ? । यदि भिन्नम्, विशेषव्यतिरेकेणोपलभ्येत । अथाभिन्नम्, विशेषमात्रं तत्, तदव्यतिरिक्तत्वात्, तत्स्वरूपवदिति । अथवा विशेषेण निश्चयो विनिश्चय: - आगोपालाङ्गनाद्यवबोध:, न कतिपयविद्वत्सम्बद्ध इति, तदर्थं व्रजति सर्वद्रव्येषु । आह च भाष्यकार:-

भमरादिपंचवण्णादिणिच्छए जम्मि वा जणवयस्स ।
अत्थे विणिच्छओ सो विणिच्छियत्थो त्ति जो गज्झो ।।१।।

बहुतरओ त्ति य तं चिय गमेइ संते वि सेसए मुयइ ।
संववहारपरतया ववहारो लोगमिच्छंतो ।।२।।(विशेषावश्यकभा० २२२०-२२२१)
इत्यादि ।

उक्तो व्यवहार इति गाथार्थ: ।

पच्चुप्पन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेयव्वो ।
इच्छइ विसेसियतरं पच्चुप्पण्णं णओ सद्दो ।।१३८।।

(वि.) पच्चुप्पण्णग्गाही गाहा । साम्प्रतमुत्पन्नं प्रत्युत्पन्नमुच्यते, वर्त्तमानमित्यर्थ:, प्रति प्रति वोत्पन्नं प्रत्युत्पन्नं भिन्नव्यक्तिस्वामिकमित्यर्थ:, तद् ग्रहीतुं शीलमस्येति प्रत्युत्पन्नग्राही ऋजुसूत्र: ऋजुश्रुतो वा नयविधिर्विज्ञातव्य: । तत्र ऋजु वर्त्तमानं अतीता-ऽनागतपरित्यागाद् वस्त्वखिलं तत् सूत्रयति गमयतीति ऋजुसूत्र: । यद्वा ऋजु वक्रविपर्ययाद् अभिमुखम्, (श्रुतं तु) ज्ञानम्, ततश्चाभिमुखं ज्ञानमस्येति ऋजुसूत्र:, शेषज्ञानानभ्युपगमात् । अयं हि नय: वर्त्तमानं स्वलिङ्ग-वचन-नामादिभिन्नमप्येकं वस्तु प्रतिपद्यते, शेषमवस्त्विति । तथाहि- अतीतमेष्यं (ष्यद् ?)

वा न भावः, विनष्टाऽनुत्पन्नत्वाददृश्यत्वात्, खपुष्पवत्, तथा परकीयमप्यवस्तु, निष्फलत्वात्, खपुष्पवत्; तस्माद् वर्त्तमानं स्वं वस्तु । तच्च न लिङ्गादिभिन्नमपि स्वरूपमुज्झति-लिङ्गभिन्नं तटस्तटी तटमिति, वचनभिन्नमापो जलम्, नामादिभिन्नं नाम-स्थापना-द्रव्य-भावा इति । उक्त ऋजुसूत्रः ।

इच्छति प्रतिपद्यते विशेषिततरं नाम-स्थापना-द्रव्यविरहेण समानलिङ्ग-वचन-पर्याय-ध्वनिवाच्ये(च्यत्वे)न च प्रत्युत्पन्नं वर्त्तमानं नयः । कः ? शप आक्रोशे (पा० धा० १०६१, १२४४), शप्यतेऽनेनेति शब्दः, तस्यार्थपरिग्रहाद-भेदोपचारान्नयोऽपि शब्द एव । तथाहि- अयं नाम-स्थापना-द्रव्यकुम्भा न सन्त्येवेति मन्यते, तत्कार्याकरणात्, खपुष्पवत्, न च भिन्न(लिङ्ग-वचनमेकम्), लिङ्ग-वचनभेदादेव, स्त्री-पुरुषवत् कुट-वृक्षवद्, अतो घटः (कुटः) कुम्भ इति स्वपर्यायध्वनिवाच्यमेवैकमिति गाथार्थः ।

वत्थूओ संकमणं होई अवत्थु णये समभिरूढे ।
वंजण-अत्थ-तदुभयं एवंभूओ विसेसेइ ।।१३९।।

(वि.) वत्थूओ गाहा । वस्तुनः सङ्क्रमणं भवति अवस्तु नये समभिरूढे, वस्तुनः घटस्य सङ्क्रमणम् अन्यत्र कुटाख्यादौ गमनं भवति अवस्तु, असदित्यर्थः, नये पर्यालोच्यमाने, कस्मिन् ? नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढस्तस्मिन् । इयमत्र भावना- घटः (कुटः) कुम्भ इत्यादिशब्दान् भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वाद् भिन्नार्थगोचरानेव मन्यते, घट-पटादिशब्दानिव । तथा च घटनाद् घटः, विशिष्टचेष्टावानर्थो घट इति, तथा कुट कौटिल्ये (पा० धा० १४५४), कुटनात् कुटः कौटिल्ययोगात् कुट इति, तथा उभ उम्भ पूरणे (पा० धा०१४०५-१४०६), कुम्भनात् कुम्भः, कुत्सितपूरणादित्यर्थः । ततश्च यदा घटार्थे कुटादिशब्दः प्रयुज्यते तदा वस्तुनः कुटादेस्तत्र सङ्क्रान्तिः कृता भवति, तथा च सति सर्वधर्माणां नियतस्वभावत्वादन्यत्र सङ्क्रान्त्योभयस्वभावापगमतोऽवस्तुतेत्यलं विस्तरेण । उक्तः समभिरूढः ।

वंजण इत्यादि । व्यज्यते व्यनक्तीति वा व्यञ्जनं शब्दः, अर्थस्तु तद्गोचरः,

तच्च तद् उभयं च तदुभयं शब्दार्थलक्षणम् एवम्भूतो नयः विशेषयति । इदमत्र हृदयम्- शब्दमर्थेन विशेषयति, अर्थं च शब्देन, घट चेष्टायाम् (पा० धा० ८१२) इत्यत्र चेष्टया घटचेष्टं (घटशब्दं ?) विशेषयति, घटशब्देनापि चेष्टाम्, न स्थानभरणक्रियाम्, ततश्च यदा योषिन्मस्तकव्यवस्थितश्चेष्टावानर्थो घटशब्देनोच्यते तदा स घटः, तद्वाचकश्च शब्दः, अन्यदा वस्त्वन्तरस्येव चेष्टाऽयोगादघटत्वं तद्ध्वनेश्चावाचकत्वमिति गाथार्थः । इत्थं तावदुक्ता नयाः, भेद-प्रभेदास्तु विशेषश्रुतादवसेयाः ।

णायम्मि गिण्हियव्वे अगिण्हियव्वम्मि चेव अत्थम्मि ।
जइयव्वमेव इइ जो उवएसो सो नओ नाम ।।१४०।।

सव्वेसिं पि नयाणं बहुविहवत्तव्वयं निसामेत्ता ।
तं सव्वनयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू ।।१४१।।

से तं नए ।।

॥ नयकर्णिका ॥

महोपाध्यायश्रीविनयविजयजी गणिवर

श्री विनयविजयोपाध्यायविरचिता

॥ नयकर्णिका ॥

वर्धमानं स्तुमः सर्वनयनद्यर्णवागमम् ।
संक्षेपतस्तदुन्नीतनयभेदानुवादतः ॥१॥

नैगमः संग्रहश्चैव व्यवहारर्जुसूत्रकौ ।
शब्दः समभिरूढैवंभूतौ चेति नयाः स्मृताः ॥२॥

अर्थाः सर्वेऽपि च सामान्यविशेषोभयात्मकाः ।
सामान्यं तत्र जात्यादि विशेषाश्च विभेदकाः ॥३॥

ऐक्यबुद्धिर्घटशते भवेत्सामान्यधर्मतः ।
विशेषाच्च निजं निजं लक्षयन्ति घटं जनाः ॥४॥

नैगमो मन्यते वस्तु तदेतदुभयात्मकं ।
निर्विशेषं न सामान्यं विशेषोऽपि न तद्विना ।।५।।

संग्रहो मन्यते वस्तु सामान्यात्मकमेव हि ।
सामान्यव्यतिरिक्तोऽस्ति न विशेषः खपुष्पवत् ।।६।।

विना वनस्पतिं कोऽपि निम्बाम्रादिर्न दृश्यते ।
हस्ताद्यन्तर्भाविन्यो हि नाङ्गुल्याद्यास्ततः पृथक् ।।७।।

विशेषात्मकमेवार्थं व्यवहारश्च मन्यते ।
विशेषभिन्नं सामान्यमसत्खरविषाणवत् ।।८।।

वनस्पतिं गृहाणेति प्रोक्ते गृह्णाति कोऽपि किम् ।
विना विशेषान्नाम्रादींस्तन्निरर्थकमेव तत् ।।९।।

व्रणपिण्डीपादलेपादिके लोकप्रयोजने ।
उपयोगो विशेषैः स्यात्सामान्ये न हि कर्हिचित् ।।१०।।

ऋजुसूत्रनयो वस्तु नातीतं नाप्यनागतम् ।
मन्यते केवलं किन्तु वर्तमानं तथा निजम् ।।११।।

अतीतेनानागतेन परकीयेन वस्तुना ।
न कार्यसिद्धिरित्येतदसद्गगनपद्मवत् ।।१२।।

नामादिषु चतुर्ष्वेषु भावमेव च मन्यते ।
न नामस्थापनाद्रव्याण्येवमग्रेतना अपि ।।१३।।

अर्थं शब्दनयोऽनेकैः पर्यायैरेकमेव च ।
मन्यते कुंभकलशघटाद्येकार्थवाचकाः ।।१४।।

ब्रूते समभिरूढोऽर्थं भिन्नं पर्यायभेदतः ।
भिन्नार्थाः कुंभकलशघटा घटपटादिवत् ।।१५।।

यदि पर्यायभेदेऽपि न भेदो वस्तुनो भवेत् ।
भिन्नपर्याययोर्न स्यात् स कुंभपटयोरपि ।।१६।।

एकपर्यायाभिधेयमपि वस्तु च मन्यते ।
कार्यं स्वकीयं कुर्वाणमेवंभूतनयो ध्रुवम् ।।१७।।

यदि कार्यमकुर्वाणोऽपीष्यते तत्तया स चेत् ।
तदा पटेऽपि न घटव्यपदेशः किमिष्यते ।।१८।।

यथोत्तरं विशुद्धाः स्युर्नयाः सप्ताप्यमी तथा ।
एकैकः स्याच्छतं भेदास्ततः सप्तशतान्यमी ।।१९।।

अथैवंभूतसमभिरूढयोः शब्द एव चेत् ।
अन्तर्भावस्तदा पंच नयपंचशतीभिदः ।।२०।।

द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकयोरन्तर्भवन्त्यमी ।
आदावादिचतुष्टयमन्त्ये चान्त्याऽस्त्रयस्ततः ।।२१।।

सर्वे नया अपि विरोधभृतो मिथस्ते,
सम्भूय साधुसमयं भगवन् भजन्ते ।
भूपा इव प्रतिभटा भुवि सार्वभौम-
पादाम्बुजं प्रधनयुक्तिपराजिता द्राक् ।।२२।।[1]

इत्थं नयार्थकवचः कुसुमैर्जिनेन्दु -
र्वीरोऽर्चितः सविनयं विनयाभिधेन ।
श्रीद्वीपबंदरवरे विजयादिदेव -
सूरीशितुर्विजयसिंहगुरोश्च तुष्ट्यै ।।२३।।[2]

।। शुभं भूयान्नयज्ञानां नयज्ञानाभिलाषिणां च ।।

१-२. वसन्ततिलका

॥ नयरहस्यप्रकरणम् ॥

महोपाध्यायश्रीयशोविजयजी गणिवर

॥ नयरहस्यप्रकरणम् ॥

मङ्गलाचरणम् :

ऐन्द्रश्रेणिनतं नत्वा वीरं तत्त्वार्थदेशिनम् ।
परोपकृतये ब्रूमो रहस्यं नयगोचरम् ॥

नयसामान्यलक्षणम् :

प्रकृतवस्त्वंशग्राही तदितरांशाप्रतिक्षेपी अध्यवसायविशेषो नयः ॥

पदकृत्यम् :

दुर्नयस्यापि अधिकृतांशाप्रतिक्षेपित्वात् तत्रातिव्याप्तिवारणाय 'प्रकृतवस्त्वंशग्राही' इति । एवं च 'तत्' पदेन तद्-भिन्न-प्रतिपन्थिधर्मोपस्थितेर्न

दोषः । प्रकृतवस्त्वंशग्राहित्वमपि दुर्नयेऽतिव्याप्तमेवेति 'तदितरांशाप्रतिक्षेपी' इति । सप्तभङ्गात्मकशब्दप्रमाणप्रदीर्घसन्तताध्यवसायैकदेशे अतिव्याप्तिवारणाय 'अध्यवसाय' पदम् । रूपादिग्राहिणि रसाद्यप्रतिक्षेपिणि अपायादिप्रत्यक्षप्रमाणे अतिव्याप्तिवारणाय 'विशेष' पदम् ।

भाष्यकृत्प्रतिपादित-नयलक्षणानि :

"नयाः प्रापकाः, साधकाः, निर्वर्तकाः, निर्भासकाः, उपलम्भकाः, व्यञ्जका इत्यनर्थान्तरम्" इति भाष्यम् ।। (१.३५)

अत्र **प्रापकत्वं** - प्रमाणप्रतिपन्न-प्रतियोगिप्रतियोगिमद्-भावापन्न नानाधर्मैकतरमात्रप्रकारकत्वम् ।

साधकत्वं तथाविधप्रतिपत्तिजनकत्वम् ।

निर्वर्तकत्वं अनिवर्तमाननिश्चितस्वाभिप्रायकत्वम् ।

निर्भासकत्वं शृङ्गग्राहिकया वस्त्वंशज्ञापकत्वम् ।

उपलम्भकत्वं प्रतिविशिष्टक्षयोपशमापेक्षसूक्ष्मार्थावगाहित्वम् ।

व्यञ्जकत्वं च प्राधान्येन स्वविषयव्यवस्थापकत्वम् ।

एवं च पदार्थं प्रतिपादयन्नपि भाष्यकारस्तत्त्वतो लक्षणान्येव सूत्रितवान् ।

विभागग्रन्थः :

द्वौ मूलभेदौ - द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च ।

द्रव्यार्थिकनयलक्षणम् :

तत्र 'द्रव्यमात्रग्राही नयो द्रव्यार्थिकः' ।

अयं हि द्रव्यमेव तात्त्विकमभ्युपैति, उत्पाद-विनाशौ पुनरतात्त्विकौ, आविर्भाव-तिरोभावमात्रत्वात् ।

पर्यायार्थिकनयलक्षणम् :

'पर्यायमात्रग्राही पर्यायार्थिकः' ।

अयं हि उत्पाद-विनाश-पर्यायमात्राभ्युपगमप्रवणः, द्रव्यं तु सजातीय-द्रव्यातिरिक्तं न मन्यते, तत एव प्रत्यभिज्ञाद्युत्पत्तेः । न चैवं इतरांशप्रतिक्षेपित्वात् दुर्नयत्वं, तत्प्रतिक्षेपस्य प्राधान्यमात्र एवोपयोगात्।

द्रव्यार्थिकनयभेदाः :

आद्यस्य चत्वारो भेदाः-नैगमः सङ्ग्रहो व्यवहार ऋजुसूत्रश्चेति जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमणप्रभृतयः ।

ऋजुसूत्रो यदि द्रव्यं नाभ्युपेयात् तदा **'उज्जुसुअस्स एगे अणुवउत्ते एगं दव्वावस्सयं, पुहुत्तं नेच्छइत्ति'** (अनु. १४).इति सूत्रं विरुध्येत ।

'ऋजुसूत्रवर्जास्त्रय एव द्रव्यार्थिकभेदाः' इति तु वादिनः सिद्धसेनस्य मतम् ।

अतीतानागत-परकीयभेद-पृथक्त्वपरित्यागाद् ऋजुसूत्रेण स्वकार्यसाधकत्वेन स्वकीय-वर्तमानवस्तुन एवोपगमात् नास्य तुल्यांश-ध्रुवांशलक्षणद्रव्याभ्युपगमः । उक्तसूत्रं तु अनुपयोगांशमादाय वर्तमानावश्यकपर्याये द्रव्योपचारात् समाधेयम् ।

पर्यायार्थिकनयभेदाः :

पर्यायार्थिकस्य त्रयो भेदाः 'शब्दः समभिरूढ एवम्भूतश्चेति' संप्रदायः । ऋजुसूत्राद्याश्चत्वार इति तु वादी सिद्धसेनः । तदेवं सप्तोत्तरभेदाः ।

सप्तेति । शब्दपदेनैव साम्प्रत-समभिरूढैवम्भूतात्मकनयभेदतया उपसङ्ग्रहात् 'पञ्च' इत्यादेशान्तरम् ।

।। इति विभागग्रन्थः ।।

लक्षणग्रन्थः :

नैगमनयनिरूपणम् :

अथ एतेषां लक्षणानि वक्ष्यामः ।

निगमेषु भवोऽध्यवसायविशेषो नैगमः ।

निगमेष्विति । तद्भवत्वं च लोकप्रसिद्धार्थोपगन्तृत्वम् । लोकप्रसिद्धिश्च सामान्यविशेषाद्युभयोपगमेन निर्वहति ।

"**णेगेहिं माणेहिं मिणइत्ति य णेगमस्स य निरूत्ति**" इति सूत्रम् (अनु. १३६) नैकमानमेयविषयोऽध्यवसायो नैगम इत्येतदर्थः ।।

"**निगमेषु येऽभिहिताः शब्दास्तेषामर्थः शब्दार्थपरिज्ञानं च देशसमग्रग्राही नैगमः**" इति तत्त्वार्थभाष्यम् (१-३५)

अत्र पूर्वदलं मदुक्तलक्षणकथनाभिप्रायं, उत्तरदलं च विषयविभागनिरुपणाभिप्रायमात्रम् ।

देशग्राहित्वं-विशेषप्रधानत्वं, समग्रग्राहित्वं च सामान्यप्रधानत्वं पारिभाषिकम् ।

अस्य च चत्वारोऽपि निक्षेपा अभिमताः । नाम स्थापना द्रव्यं भावश्चेति ।।

नामेति । 'घट' इत्यभिधानमपि घट एव । 'अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेयाः' इति वचनात् । वाच्यवाचकयोरत्यन्तभेदे प्रतिनियतपदशक्त्यनुपपत्तेश्च ।

स्थापनेति । घटाकारोऽपि घट एव तुल्यपरिणामत्वात्, अन्यथा तत्त्वायोगात् ।

द्रव्यमिति । मृत्पिण्डादिर्द्रव्यघटोऽपि घट एवान्यथा परिणामपरिणामिभावानुपपत्तेः ।

भाव इति । भावघटपदं चासंदिग्धवृत्तिकमेव ।।

सङ्ग्रहनयनिरूपणम् :

'नैगमाद्युपगतार्थसङ्ग्रहप्रवणोऽध्यवसायविशेषः सङ्ग्रहः' ।

नैगमेति । सामान्यनैगमवारणाय 'नैगमाद्युपगतार्थ'पदम् । सङ्ग्रहश्च

विशेषविनिर्मोकोऽशुद्धविषयविनिर्मोकश्चेत्यादि यथासंभवमुपादेयम् । तत्प्रवणत्वं च तन्नियतबुद्धिव्यपदेशजनकत्वं, तेन नार्थरूपसङ्ग्रहस्य नयजन्यत्वानुपपत्तिदोषः ।

'संगहिय-पिंडियत्थं संगहवयणं समासओ बिंति' इति सूत्रम् । (अनु. १५२)

अत्र सङ्गृहीतं सामान्याभिमुखग्रहणगृहीतं, पिण्डितं च विवक्षितैकजात्युपरागेण प्रतिपिपादयिषितमित्यर्थः ।

सङ्गृहीतं महासामान्यं, पिण्डितं तु सामान्यविशेष इति वार्थः ।

'अर्थानां सर्वैकदेशसङ्ग्रहणं सङ्ग्रहः' इति तत्त्वार्थभाष्यम् ।

अर्थेति । अत्र सर्वं सामान्यं, एकदेशश्च विशेषः । तयोः सङ्ग्रहणं सामान्यैकदेश-स्वीकार इत्यर्थः ।

अयं हि घटादीनां भवनानर्थान्तरत्वात् तन्मात्रमेव स्वीकुरुते, घटादिविशेषविकल्पस्तु अविद्योपजनित एवेत्यभिमन्यते ।

जगदैक्ये घटपटादिभेदो न स्यादिति **चेत्**, न स्यादेव वास्तवः, रज्जौ सर्पभ्रमनिबन्धनसर्पादिवद् अविद्याजनितोऽनिर्वचनीयस्तु स्यादेवेत्याद्या एतन्मूलिका औपनिषदादीनां युक्तयः ।।

अस्यापि चत्वारो निपेक्षा अभिमताः ।।

व्यवहारनयनिरुपणम् :

'लोकव्यवहारौपयिकोऽध्यवसायविशेषो व्यवहारः'

'वच्चइ विणिच्छियत्थं ववहारो सव्वदव्वेसु' इति सूत्रम् (अनु. १५२)

'विणिच्छियत्थं' इति । विनिश्चितार्थप्राप्तिश्चास्य सामान्यानभ्युपगमे सति विशेषाभ्युपगमात् । अत एव विशेषेण अवह्रियते निराक्रियते सामान्यमनेनेति निरुक्त्युपपत्तिः ।

अयं हि जलाहरणाद्युपयोगिनो घटादिविशेषानेवाङ्गीकरोति न तु सामान्यं, अर्थक्रियाऽहेतोस्तस्य शशशृङ्गप्रायत्वात् ।

'लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः' इति तत्त्वार्थभाष्यम् ।

लौकिकेति । विशेषप्रतिपादनपरमेतत् । यथा हि लोको निश्चयतः पञ्चवर्णेऽपि भ्रमरे कृष्णवर्णत्वमङ्गीकरोति तथायमपीति ।

लौकिकसम इति । कुण्डिका स्रवति, पन्थाः गच्छतीत्यादौ बाहुल्येन गौण प्रयोगाद् उपचारप्रायः विशेषप्रधानत्वाञ्च विस्तृतार्थ इति ।

अयमपि सकलनिक्षेपाभ्युपगमपर एव ।

ऋजुसूत्रनयनिरूपणम् :

'प्रत्युत्पन्नग्राही अध्यवसायविशेष ऋजुसूत्रः' ।

पच्चुप्पण्णग्गाही उज्जुसूओ णयविही मुणेयव्वो ।। इति सूत्रम् (अनु. १५२)

प्रत्युत्पन्नग्राहित्वं च भावत्वेऽतीतानागतसम्बन्धाभावव्याप्यत्वोपगन्तृत्वं, नातोऽतिप्रसङ्गः ।

'सतां साम्प्रतानामभिधानपरिज्ञानं ऋजुसूत्र' इति तत्त्वार्थभाष्यम् (१-३५)

व्यवहारातिशायित्वं लक्षणमभिप्रेत्य तदतिशयप्रतिपादनार्थमेतदुक्तम् ।

व्यवहारो हि सामान्यं व्यवहारानङ्गत्वान्न सहते, कथं तर्हि अर्थमिति परकीयं अतीतमनागतं चाप्यभिधानमपि तथाविधार्थवाचकं ज्ञानमपि च तथाविधार्थविषयमविचार्य सहेत ? इत्यस्याभिमानः ।

अस्यापि चत्वारो निक्षेपा अभिमताः ।

- द्रव्यनिक्षेपं नेच्छत्ययमिति वादिसिद्धसेनमतानुसारिणः, तेषामुक्तसूत्रविरोधः । न चोक्त एव तत्परिहार एतन्मतपरिष्कार इति वाच्यम्, नामादिवदनुपचरितद्रव्यनिक्षेपदर्शनपरत्वादुक्तसूत्रस्य तदनुपपत्तेः । अधिकमन्यत्र ।।

शब्दनयनिरूपणम् :

आदेशान्तरे "यथार्थभिधानं शब्द" इति त्रयाणां लक्षणम् ।

भावमात्राभिधानप्रयोजकोऽध्यवसायविशेष इति एतदर्थः । तेन न अति प्रसङ्गादिदोषोपनिपातः (भावः = भावनिक्षेपः)

तत्रापि

'नामादिषु प्रसिद्धपूर्वात् शब्दात् अर्थप्रत्ययः साम्प्रतः' इति साम्प्रतलक्षणम् ।

प्रतिविशिष्टवर्तमानपर्यायापन्नेषु नामादिष्वपि गृहीतसङ्केतस्य शब्दस्य भावमात्रबोधकत्वपर्यवसायीति तदर्थः । तथात्वं च भावातिरिक्तविषयांश उक्तसङ्केतस्याप्रामाण्यग्राहकतया निर्वहति । तज्जातीयाध्यवसायत्वं च लक्षण मिति न क्वचिदनीदृशस्थलेऽव्याप्तिः । समभिरुढाद्यतिव्याप्तिश्च अध्यवसाये विषये वा तत्तदन्यत्वदानान्निराकरणीया ।।

सम्प्रदायेऽपि **'विशेषिततरः ऋजुसूत्राभिमतार्थग्राही अध्यवसायविशेषः शब्दः'** इत्यापादितसंज्ञान्तरस्यास्य लक्षणम् ।

'इच्छइ विसेसियतरं पच्चुप्पण्णं णओ सद्दो' इति सूत्रम् (अनु. १५२)

अत्रापि 'तर'प्रत्ययमहिम्ना विशेषिततमाधोवर्तिविषयाग्रहणान्न समभिरूढाद्यतिव्याप्तिरिति स्मर्तव्यम् ।

ऋजुसूत्राद् विशेषः पुनरस्येत्थं भावनीयः- यदुत संस्थानादिविशेषात्मा भावघट एव परमार्थसत् तदितरेषां तत्तुल्यपरिणत्यभावेनाघटत्वात् ।

अथवा लिङ्ग-वचन-सङ्ख्यादिभेदेनार्थभेदाभ्युपगमाद् ऋजुसूत्रादस्य विशेषः ।।

अस्य च उपदर्शिततत्त्वो भावनिक्षेप एवाभिमतः ।।

समभिरूढनयनिरूपणम् :

असङ्क्रमगवेषणपरोऽध्यवसायविशेषः समभिरूढः ।

"वत्थुओ संकमणं होइ अवत्थु णए समभिरूढे" इति सूत्रम् ।

"सत्स्वर्थेष्वसङ्क्रमः समभिरूढः इति" तत्त्वार्थभाष्यम् ।

असङ्क्रमेति । तत्त्वं च यद्यपि न संज्ञाभेदेनार्थभेदाभ्युपगन्तृत्वं घटपटादि-संज्ञाभेदेन नैगमादिभिरपि अर्थभेदाभ्युपगमात्, तथापि संज्ञाभेदनियतार्थ-भेदाभ्युपगन्तृत्वं तत् । एवम्भूतान्यत्वविशेषणाच्च न तत्रातिव्याप्तिः ।

अयं खल्वस्याभिमानः यदुत-यदि शब्दो लिङ्गादिभेदेनार्थभेदं प्रतिपद्यते तर्हि संज्ञाभेदेनापि किमित्यर्थभेदं न स्वीकुरुते ? ।।

अस्याप्युपदर्शिततत्त्वो भावनिक्षेप एवाभिमतः ।

एवम्भूतनयनिरूपणम् :

व्यञ्जनार्थविशेषान्वेषणपरोऽध्यवसायविशेष एवम्भूतः ।

'वंजण-अत्थ-तदुभयं एवंभूओ विसेसेइ' इति सूत्रम् ।

'व्यञ्जनार्थयोरेवम्भूत' इति तत्त्वार्थभाष्यम् ।

व्यञ्जनेति । तत्त्वं च पदानां व्युत्पत्त्यर्थान्वयनियतार्थबोधकत्वाभ्युपगन्तृत्वं, नियमश्च कालतो देशतश्चेति न समभिरूढातिव्याप्तिरपि ।

अस्याप्युपदर्शिततत्त्वो भावनिक्षेप एवाभिमतः ।

अयं खल्वस्य सिद्धान्तो यदुत-यदि घटवदव्युत्पत्त्यर्थाभावात् कुटपदार्थोऽपि न घटपदार्थस्तदा जलाहरणादिक्रियाविरहकाले घटोऽपि न घटपदार्थोऽविशेषादिति ।

नन्वेवं प्राणधारणाभावात् सिद्धोऽपि न जीवः स्यादिति **चेत्** ? एतन्नये न स्यादेव । तदाह भाष्यकारः-

एवं जीवं जीवो संसारी पाणधारणाणुभावा ।

सिद्धो पुण अजीवो जीवणपरिणामरहिओ त्ति ।।२२५६।।

केचित्तु दिगम्बराः एवम्भूताभिप्रायेण सिद्ध एव जीवो भावप्राणधारणात् न तु संसारीति परिभाषन्ते । यदाहुः-

तिक्काले च दुपाणा इंदिय बलमाउसाणपाणे य ।

ववहारा सो जीवो णिच्छयओ दुचेयणा जस्स ।। द्रव्यसङ्ग्रहः ३ ।।

तच्चिन्त्यम्, एवम्भूतस्य जीवं प्रति औदयिकभावग्राहकत्वात् ।

सिद्धोऽप्येतन्नये सत्त्वयोगात् सत्त्वः । अतति सततमपरपर्यायान् गच्छतीत्यात्मा च स्यादेव ।।

तदेवं लक्षिताः सप्तापि नयाः ।।

एतेषु च यद्यपि क्षणिकत्वादिसाधने नित्यत्वादिपराकरणमेकान्तानुप्रवेशादप्रमाणम्, तथापि परेषां तर्क इव प्रमाणानां स्वरुचिविशेषरूपनयानामनुग्राहकत्वाद् युज्यत इति सम्भाव्यते । तत्त्वं तु बहुश्रुता विदन्ति ।।

एतेषु च बलवत्त्वाबलवत्त्वादिविचारेऽपेक्षैव शरणम् ।

नय-परिज्ञान फलम्- :

फलं पुनर्विचित्रनयवादानां जिनप्रवचनविषयरुचिसम्पादनद्वारा रागद्वेषविलय एव ।

अत एवायं भगवदुपदेशोऽपि-

सव्वेसिं पि नयाणं बहुविहवत्तव्वयं निसामित्ता ।

तं सव्वनयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू ।। आव. निर्यु. १०५५ ।।

चरणगुणस्थितिश्च परममाध्यस्थरूपा न राग-द्वेषविलयमन्तरेणेति तदर्थिना तदर्थं अवश्यं प्रयतितव्यमित्युपदेशसर्वस्वम् ।।

।। इति फलग्रन्थः ।।

।। नयरहस्य प्रकरणम् ।।

॥ अनेकान्त-व्यवस्था ॥

महोपाध्याय श्रीयशोविजय गणिवर

।। अनेकान्त-व्यवस्था ।।

मङ्गलम् :

ऐन्द्रस्तोमनतं नत्वा वीतरागं स्वयम्भुवम् ।
अनेकान्तव्यवस्थायां श्रमः कश्चिद् वितन्यते ।।१।।

प्रस्तावना :

जिनमतमतिगंभीरं नयलवविद्भिः परैरनन्तनयम् ।
आघ्रातुमपि न शक्यं हरिणेन व्याघ्रवदनमिव ।।२।।

वस्तुधर्मो ह्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधितः ।
अज्ञात्वा दूषणं तस्य निजबुद्धेर्विडम्बनम् ।।३।।

अनेकान्तलक्षणम् - सप्ततत्त्वानि च :

अथ कोऽयमनेकान्तः ? **उच्यते**

तत्त्वेषु भावाभावादिशबलैकरूपत्वम् ।

कानि तत्त्वानीति **चेत्** ? तत्रेदं तत्त्वार्थ-महाशास्त्रसूत्रम्-

"जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्" (१-४)

(१) जीवाः- औपशमिकादिभावान्विताः ।

(२) अजीवाः- धर्मादयश्चत्वारोऽस्तिकायाः ।

(३) आश्रूयते गृह्यते यैः कर्म ते आश्रवाः, शुभाशुभकर्मादानहेतव इत्यर्थः ।

(४) बन्धो नाम आश्रवात्तकर्मण आत्मना सह प्रकृत्यादिविशेषतः संयोगः ।

(५) आश्रवनिरोधहेतुः संवरः ।

(६) विपाकात् तपसो वा कर्मणां शाटो निर्जरा ।

(७) सर्वोपाधिविशुद्धात्मलाभो मोक्षः ।

"इत्येष सप्तविधोऽर्थस्तत्त्वम्, एते वा सप्तपदार्थास्तत्त्वानि" इति भाष्यकारः ।

ननु कथं सप्तैव तत्वानि ?, पुण्यपापयोरप्यधिकयोः सत्त्वादिति, **चेन्न** बन्ध एव तयोरन्तर्भावमभिप्रेत्य भेदेनानभिधानात् ।

हन्त ! तर्हि 'जीवाजीवास्तत्त्वम्' एतावदेव वाच्यं स्यात्, आश्रवादीनां पञ्चानां जीवाजीवयोरभिन्नत्वात्, तथा हि- आश्रवो मिथ्यादर्शनरूपः परिणामो जीवस्य, स च क आत्मानं पुद्गलांश्च विहाय ?; बन्धश्चात्मप्रदेशसंश्लिष्टकर्म-पुद्गलात्मकः, संवरोऽप्यात्मन एवाश्रवनिरोधलक्षणो देश-सर्वनिर्वृतिपरिणामः । निर्जरा तु पार्थक्यापन्नजीवपुद्गलदशैव । मोक्षोऽपि समस्तकर्मरहित आत्मैवेति **चेत्**, इदमित्थमेव, किन्त्विदं शास्त्रं मुमुक्षुशिष्यप्रवृत्तये, सा च मुक्ति-संसारयोः कारणयोर्भेदेनाभिधानं विना न स्यादित्याश्रवो बन्धश्चेति द्वयं मुख्यं संसारकारणं, संवरो निर्जरा चेति द्वयं मुख्यं मोक्षकारणमुपात्तं, यत्तु मुख्यं प्रयोजनं मोक्षो यदर्थाः सर्वाः प्रवृत्तयः स कथं न प्रदर्श्येत ? इति युक्तं पञ्चानामप्युपादानम् । तदेवं जीवाजीवादीनि सप्तैव तत्त्वानीति स्थितम् ।।

यदि चाभ्युदयहेतुतया पुण्यस्य तत्प्रतिपक्षतया पापस्यापि च पृथग् निरुपणमावश्यकं तदाभ्युदयनिःश्रेयसहेतुप्रवृत्त्यनुकूलज्ञानविषयतया जीवाजीवादयो नवैव पदार्थाः निरूपणीयेति परममुनिसिद्धान्तसरणिः ।

अथ किमेतेषु भावाभावादिशबलैकरूपत्वम् ? **उच्यते** विषयतया भावाभावाद्याकारबुद्धिजनकपरिणामद्वयतादात्म्यापन्नजात्यन्तरैकधर्मित्वम् । अस्ति ह्येकस्य जीवाजीवादेः स्व-परद्रव्यादिनिबन्धनो भावाभावादिरूपो द्विविधः परिणामः, यद्बलात् तत्र 'अस्ति' 'नास्ति' इति प्रत्ययद्वयमुपजायते । तदेवं व्यवस्थितं जीवाजीवादीनां विचित्रभावाभावादिशबलैकरूपत्वम् ।।

अथ के ते नयाः ? यैः प्रतिनियतधर्मग्रह इति ? **उच्यते-**

नैगम-सङ्ग्रह-व्यवहारर्जुसूत्र-शब्द-समभिरूढैवम्भूता नयाः ।

नैगमनयनिरूपणम्-

तत्र नैकैः- प्रभूतैः मानैः- महासामान्यावान्तरसामान्यविशेषज्ञानलक्षणैः, मिनोति मिमीते वा निरुक्तविधिना वर्णविपर्ययान्नैगमः । वर्णविपर्ययः ककारस्थाने गकारः । यदुक्तम् -

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ ।

धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ।।

अथवा लोकार्थनिबोधाः- निगमाः तेषु भवः कुशलो वा नैगमः ।

अयं च महासामान्यादिषु क्रमेण सर्वाविशुद्धो, विशुध्दाविशुद्धो विशुध्दश्च ज्ञातव्यः । एवं प्रस्थकाद्युदाहरणेष्वपि सिद्धान्तसिद्धेषु भावनीयम् । एवं घटादिष्वपि कार्यकारणयोरवयवावयविनोरन्यप्रकारेण चोपचारानुपचाराभ्यां अविशुद्ध-मध्यम-विशुद्धभेदाः भावनीयाः, एतद्व्युत्पत्त्यर्थमेव प्रस्थकादिदृष्टान्तोपदेशात् ।

अस्मिन्नये विशेषेभ्योऽन्यदेव सामान्यम्, अनुवृत्तिबुद्धिहेतुत्वात् । सामान्याच्चान्ये एव विशेषाः व्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वात् । एवमाश्रयादपि भिन्नमेव सामान्यं, अन्यथा व्यक्तिवत् साधारण्यानुपपत्तेः ।

एवं तुल्याकृतिगुणक्रियैकप्रदेशनिर्गतागतपरमाणुषु योगिनां परस्परभेदबुद्धि-हेतुरन्त्यविशेषोऽपि परमाणुभ्यो भिन्न एव, स्वस्मिन्नितरभेदबुद्धेः स्वातिरिक्तविशेष-हेतुकत्वनियमाद् गोत्वादिसामान्यविशेषस्थले तथादर्शनादित्यवधेयम्।

नन्वेवं द्रव्यार्थविषयं सामान्यं पर्यायार्थविषयं विशेषं चेच्छन् नैगमः साधुवदुभयनयावलम्बित्वेन सम्यग्दृष्टिः स्यादिति **चेन्न,** परस्परं वस्तुतश्च भिन्नसामान्यविशेषाभ्युपगन्तृत्वेनास्य कणादवत् मिथ्यादृष्टित्वात् । तदुक्तं महाभाष्ये सन्मतौ च-

दोहि वि णएहि णीयं सत्थमुलुयस्स तहवि मिच्छत्तं ।

जं सविसयप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णनिरवेक्खा ।। (विशे. २१९ पू. सन्म. ३-४९)

ननु यदि द्रव्यपर्यायोभयावगाही नैगमस्तदा 'आद्यास्त्रयो द्रव्यार्थिका अन्त्याश्चत्वारः पर्यायार्थिकाः' इति सिद्धसेनाचार्याणां 'आद्याश्चत्वारो द्रव्यार्थिका अन्त्यास्त्रयः पर्यायार्थिकाः' इति जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यपादानां च विभागवचनं व्याहन्येत नैगमस्योभयान्तःपातित्वेन पर्यायार्थिकाधिक्यात् । **न** चोभयविषयकत्वेऽपि द्रव्यांशे प्राधान्येनास्य द्रव्यार्थिकत्वमेवेति **वाच्यम्,** पर्यायांशेऽपि क्वचिदस्य प्राधान्यदर्शनात् । त्रिविधो ह्ययमाकरादावुदाह्रियते धर्मयोर्धर्मिणोः धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन विवक्षणात् । तत्र 'सच्चैतन्यमात्मनि' (प्रमा. ७-८) इत्याद्यो भेदः । अत्र चैतन्याख्यस्य धर्मस्य विशेष्यत्वेन प्राधान्यात्, सत्ताख्यधर्मस्य तु विशेषणत्वेनोपसर्जनभावात् । 'वस्तु पर्यायवद् द्रव्यम्' (७-९) इति द्वितीयो भेदः वस्त्वाख्यधर्मिणो विशेष्यत्वेन प्राधान्यात् पर्यायवद्द्रव्यस्य तु विशेषणत्वेनोपसर्जनभावात् । 'क्षणमेकं सुखी विषयासक्तो जीवः' (७-१०) इति तृतीयो भेदः । अत्र विषयासक्तजीवाख्य धर्मिणो विशेष्यत्वेन मुख्यत्वात् सुखलक्षणधर्मस्य तु विशेषण त्वेनोपसर्जनत्वात् । इत्थं चात्र धर्मप्राधान्ये पर्यायप्राधान्यात् पर्यायार्थिकत्वमपि दुर्निवारमिति **चेत्,** सत्यं, द्रव्यपर्यायोभयग्राहित्वेऽपि नैगमस्याधिकृतवस्तुनि द्रव्यपर्यायान्यतरात्मकत्वजिज्ञासायां द्रव्यांशाप्रतिक्षेपेणैव द्रव्यार्थिकत्वनिर्धारणात् सामान्यरूपस्यास्य सङ्ग्रहे विशेषरूपस्य च व्यवहारेऽन्तर्भावपक्षे व्यवहारस्यापि

द्रव्यार्थतायाश्चिन्त्यत्वापत्तेः । निर्णीते च स्वस्वान्यविषयप्रतिक्षेपेणैव द्रव्यपर्यायग्राहिणो द्रव्यार्थिकत्व-पर्यायार्थिकत्वे निर्युक्तिभाष्यादौ ।

तदेवं द्रव्यार्थिकः पर्यायं प्रतिक्षिपति पर्यायार्थिकस्तु द्रव्यं, इति द्रव्यांशाप्रतिक्षेपान्नैगमो द्रव्यार्थिक इति व्यवस्थितम् । **न च** तथा तज्जातीयेन पर्यायाप्रतिक्षेपात् पर्यायार्थिकत्वमपि स्यादिति **वाच्यं** यज्जात्यवच्छेदेन द्रव्याप्रतिक्षेपित्वं तज्जातीयस्य तन्नयत्वं इत्येवं परिभाषणात् ।

वस्तुतः क्षणिकत्वादिविशेषणशुद्धपर्यायं नैगमो नाभ्युपगच्छत्येवं, किञ्चित्काल स्थायि-अशुद्धतदभ्युपगमस्तु सत्तामहासामान्यरूपद्रव्यांशस्य घटादिसत्तारूप-विशेषप्रस्तारमूलतया शुद्धद्रव्याभ्युपगम एव पर्यवस्यतीति न पर्यायार्थिकत्वं तस्य । अत एव सामान्यविशेषविषयभेदेन सङ्ग्रहव्यवहारयोरेवान्तर्भावेन शुद्धाशुद्धद्रव्यास्तिकायोऽयमिष्यते इति-

दव्वट्ठियनयपयडी सुद्धा संगहपरूवणाविसओ ।
पडिरूवे पुण वयणत्थणिच्छओ तस्स ववहारो ।। १-४।।

इति सन्मतिगाथायां पृथङ्नोदाहृतः ।

अत्र नैगमो न पृथग् जगृहे सङ्ग्रहव्यवहारविषयातिरिक्तद्विषयासिद्धेरिति । येषां तु मते पृथङ्नैगमनयो विद्यते ते प्रतिपतृभेदान्नाना तदभिप्रायं वर्णयन्ति । यतः केचिदाहुः **'पुरुष एवेदं सर्वं'** (पुरुषसूक्त) इत्यादि । यदाश्रित्योक्तम्-

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।। गीता १५-१।।

पुरुषोऽप्येकत्वनानात्वभेदात् कैश्चिदभ्युपगतो द्वेधा, नानात्वेऽपि तस्य कर्तृत्वाकर्तृत्वभेदः परैराश्रितः, कर्तृत्वेऽपि सर्वगतेतरभेदः, असर्वगतत्वेऽपि शरीरव्याप्यव्यापिभ्यां भेदः, व्यापित्वेऽपि मूर्तेतरविकल्पाद् भेद एव । अपरैस्तु प्रधानकारणकं जगदभ्युपगतं, तत्रापि कैश्चिद् सेश्वरनिरीश्वरभेदोऽभ्युपगतः । अन्यैस्तु परमाणुप्रभवमभ्युपगतं जगद् तत्रापि सेश्वरनिरीश्वरभेदाद् भेदोऽभ्युपगत एव । सेश्वरपक्षेऽपि स्वकृतकर्मसापेक्षत्वानपेक्षत्वाभ्यां तदवस्थ एव

भेदाभ्युपगमः । कैश्चित् स्वभावकालयदृच्छादिवादाः समाश्रिताः, तेष्वपि सापेक्षत्वानपेक्षत्वाभ्यां भेदव्यवस्थाभ्युपगतैव । तथा कारणं नित्यं कार्यमनित्यं इत्यपि द्वैतं कैश्चिदभ्युपगतम् । तत्रापि कार्यं स्वरूपं नियमेन त्यजति न वेत्ययमपि भेदाभ्युपगमः । एवं मूर्तैरेव मूर्तमारभ्यते, अमूर्तैरमूर्तं, मूर्तैरमूर्तं अमूर्तैर्मूर्तम् इत्यनेकधा निगमार्थः सन्मतिवृत्तौ व्यवस्थितः ।

एतन्नयमालम्ब्य वैशेषिकदर्शनं प्रवृत्तम् । एवं नैयायिकदर्शनमपि, प्रायः समानत्वाद् द्वयोरिति ।

सङ्ग्रहनयनिरुपणम् :

सङ्ग्रहणं=सामान्यरूपतया सर्ववस्तूनामाक्रोडनं सङ्ग्रहः । सङ्गृह्णाति सामान्यरूपतया वा सर्वमिति वा सङ्ग्रहः ।

'सङ्गृहीतपिण्डीतार्थं सङ्ग्रहवचनं' इत्यागमः ।

अस्यार्थः- सङ्गृहीतः=सामान्याभिमुखेन गृहीतः, पिण्डीतः- एकजातिमानीतः । यद्वा- सङ्गृहीतः=अनुगमविषयीकृतः, पिण्डीतः निराकृतपराभिमतव्यतिरेकः । यद्वा- सङ्गृहीतः=सत्ताख्यमहासामान्यभावमापन्नोऽर्थो: यस्य तत्तथा सङ्ग्रहवचनं । अन्तःक्रोडीकृतसर्वविशेषस्य सामान्यस्यैव तेनाभ्युपगमात् । 'सद्' इत्येवं भणिते सर्वत्र भुवनत्रयान्तर्गते वस्तुनि बुद्धेरनुधावनात् । घटपटादीनां हि भावान्यत्वे खरविषाणप्रख्यत्वं तदनन्यत्वे च सामान्यैकपरिशेष एव न्याय्य इति । यन्महाभाष्यकृत्-

कुम्भो भावाणन्नो जइ तो भावो अहन्नहाभावो ।
एवं पडादओ वि भावाणन्नत्ति तम्मतं ॥

चूओ विणस्सइ च्चिय मूलाइगुणोत्ति तस्समूहो वा ।
गुम्मादओ वि एवं सव्वे न वणस्सइविसिठ्ठा ॥ विशे. २२०८-१०॥

अत एव यत्र विशेषक्रिया न श्रूयते तत्रास्ति-भवतीत्यादिका प्रयुज्यते इति शाब्दिकाः । सत्तायाः सर्वपदार्थाव्यभिचारात् । यदेव च सर्वाव्यभिचाररूपं तदेव

पारमार्थिकं यच्च व्यभिचारि तत् प्रबुद्धवासनाविशेषनान्तरीयकोपस्थितिकम-प्यपारमार्थिकम् ।।

एतन्नयमाश्रित्य चिदानन्दैकरससदद्वैतप्रतिपादकं वेदान्तदर्शनमुद्भूतम् ।।

व्यवहारनयनिरूपणम् - :

व्यवहरणं व्यवहारः ।

व्यवहरतीति वा व्यवहारः ।

विशेषतोऽवह्रियते-निराक्रियते सामान्यमनेनेति वा व्यवहारः ।

अयमुपचारबहुलो लोकव्यवहारपरः ।

'वच्चइ विणिच्छियत्थं, ववहारो सव्वदव्वेसु (विशे. २१८३) इति सूत्रम् ।

व्यवहारः सर्वद्रव्येषु विचार्य विशेषानेव व्यवस्थापयतीति एतदर्थः । इत्थं ह्यसौ विचारयति ननु 'सदिति यदुच्यते तद् घट-पटादिविशेषेभ्यः किमन्यन्नाम ? वार्तामात्रप्रसिद्धं सामान्यमनुपलम्भान्नास्त्येव ।'

अथवा **'वच्चइ'** इत्यादेर्लोकव्यवहारो विनिश्चयतः तदर्थं व्रजति व्यवहार इत्यर्थः । तथा हि - निश्चयनयमतेन भ्रमरादेः पञ्चवर्णद्विगन्धपञ्चरसाष्टस्पर्शवत्त्वे सत्यपि तत्र कृष्णवर्णादौ जनपदस्य निश्चयो भवति, तमेवार्थं व्यवहारनयः स्थापयति न तु सम्मतमप्यन्यत्, तथैव लोकव्यवहारनिर्वाहात् । **न** चैवं भ्रमरो न श्वेतः इत्याद्यध्यक्षशाब्दयोरतस्मिंस्तद्ग्राहकत्वेन लौकिकप्रामाण्यमपि न स्यादिति **शङ्कनीयं** 'न श्वेतः' इत्याद्यध्यक्षस्योद्भूततया श्वेताद्यभावविषयकत्वोपगमात्, तादृशशब्दस्थले च भावसत्यताग्राहकव्युत्पत्तिमहिम्ना श्वेतादिपदानाभुद्भूतश्वेतादि-परत्वग्रहेण दोषाभावादिति दिग् ।।

अस्मान्नयादेकान्तनित्यचेतनाचेतनवस्तुद्वयप्रतिपादकं साङ्ख्यदर्शनमुत्पन्नम् । यद् वादी-

जं काविलं दरिसणं, एवं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं ।। सन्म. ३-४८ ।।

द्रव्यार्थिकपदमत्र व्यवहारलक्षणाशुद्धद्रव्यार्थिकपरं द्रष्टव्यं, शुद्धद्रव्यार्थिक प्रकृतेः सङ्ग्रहनयरूपाया वेदान्तदर्शनोत्पत्तिमूलताया उक्तत्वात् ।।

ऋजुसूत्रनयनिरूपणम् :

ऋजु-अवक्रं **श्रुतं**-ज्ञानमस्य ऋजुश्रुतः ।

यद्वा **ऋजु**-अवक्रं वस्तु **सूत्रयतीति** ऋजुसूत्रः । यद् भाष्यकृद्-

उज्जुं उज्जुं सुयं नाणं उज्जुयमस्स सोयमुज्जुसुओ ।

सुत्तयइ वा जमुज्जुं वत्थुं तेणुज्जुसुत्तोत्ति ।। विशे. २२२२ ।।

ऋजुत्वं चैतदभ्युपगतवस्तुनोऽवर्तमानपरकीयनिषेधेन प्रत्युत्पन्नत्वम् । अतीतमनागतं परकीयं च वस्त्वेतन्मते वक्रं, प्रयोजनाकर्तृत्वेन परधनवत् तस्यासत्त्वात्, स्वार्थक्रियाकारित्वस्यैव स्वसत्तालक्षणत्वात् ।

अत एव व्यवहारनयवादिनं प्रति अयमेवं पर्यनुयुङ्क्ते - 'यदि व्यवहारानुपयोगादनुपलम्भाच्च सङ्ग्रहनयसम्मतं सामान्यं त्वं नाभ्युपगच्छसि, तदा तत एव हेतुद्वयात् गतमेष्यत् परकीयं च वस्तु माभ्युपगमः । न हि तैः कश्चिद् व्यवहारः क्रियते उपलब्धिविषयीभूयते वा । वासनाविशेषजनितो व्यवहारस्तु सामान्येऽप्यतिप्रसज्यत इति यत् स्वकीयं साम्प्रतकालीनं च तद्वस्तु ।

लिङ्गसङ्ख्यादिभेदेऽपि 'तटस्तटीतटम्' इत्यादौ 'गुरुर्गुरवः' 'आपो जलम्' 'दाराः कलत्रं' इत्यादौ च विपरिणतनानापर्यायशब्दवाच्यं निक्षेपचतुष्टयाक्रान्तमपि एकमेव स्वीकुरुते ऋजुसूत्रनयः । न तु शब्दनयवत् भावरूपैकनिक्षेपाक्रान्तं लिङ्ग-सङ्ख्याभिन्नपर्यायशब्दावाच्यं च । तदाह भाष्यकृत्-

तम्हा णिययं संपइकालीणं लिंगवयणभिन्नंपि ।

नामादिभेदे विहियं पडिवज्जइ वत्थुमुज्जुसुत्तो ति ।। २२२३ विशे. ।।

अस्मान्नयात् परपर्यायासंस्पर्शि एकपर्याये वचनं विच्छिन्दद् बौद्धदर्शनं प्रवृत्तम् ।।

शब्दनयनिरूपणम् :

'शप् आक्रोशे' शपनं-आह्वानमिति शब्दः ।

शपति- आह्वयतीति वा शब्दः ।

शप्यते वाहूयते वस्त्वनेनेति शब्दः ।

शब्दस्य यो वाच्योऽर्थस्तत्प्रधानत्वान्नयोऽपि शब्दः उपचारात् । यथा कृतकत्वादित्यादिकः पञ्चम्यन्तशब्दोऽपि हेतुः । अर्थरूपं हि कृतकत्व मनित्यत्वगमकत्वान्मुख्यतया हेतुरुच्यते उपचारात्तु तद्वाचकः शब्दः । तद्वदिहापि द्रष्टव्यम् । उक्तं च महाभाष्यकृता -

सवणं सपइ स तेणं व सप्पए वत्थु जं सद्दो ।

तस्सत्थपरिग्गहओ नओ वि सद्दो त्ति हेउ व्व ।। २२२७ ।।

शब्दवाच्यार्थपरिग्रहप्राधान्यम्-

इच्छइ विसेसियतरं पच्चुप्पण्णो नओ सद्दो । २१८४ ।। नि. ।।

इति निर्युक्तिदलं तत्र भाष्यम्-

तं चिय रिउसुत्तमयं पच्चुप्पन्नं विसेसियतरं सो ।

इच्छइ भावघडं चिय जं न उ नामादिए तिण्णे ।। २२२८ ।।

तदेव ऋजुसूत्रनयमतं - ऋजुसूत्रनयाभ्युपगतं । प्रत्युत्पन्नं वर्तमानं वस्तु इच्छति । असौ - शब्दनयः । कीदृशं ? विशेषिततरं । कुत इदं ज्ञायते ? यद् - यस्मात् पृथुबुध्नोदराद्याकारकलितं मृन्मयं जलाहरणादिक्रियाक्षमं प्रसिद्धघटरूपं भावघटमेवेच्छत्यसौ । न तु शेषान्नाम-स्थापना-द्रव्यरूपात्रीन् घटानिति । शब्दार्थप्रधानो ह्येष नयः । शब्दार्थश्च प्रकृते घट चेष्टायामिति धात्वर्थलक्षणो भावघट एव युज्यते, न नामादिष्विति निक्षेपचतुष्टयाभ्युपगमपराद् ऋजुसूत्राद् विशेषिततरं वस्तु इच्छत्यसौ, एकस्यैव भावघटस्यानेनोपगमाद् । नामादिघटनिराकरणे प्रमाणम्-

नामादओ न कुंभा तक्कज्जाकरणओ पडाइव्व ।

पच्चक्खविरोहाओ तल्लिंगाभावओ वा वि ।। २२२९ वि. ।।।

नाम-स्थापना-द्रव्यरूपाः कुम्भा न भवन्ति, जलाहरणादितत्कार्याकरणात् पटादिवत्, तथा प्रत्यक्षविरोधात् तल्लिङ्गादर्शनाच्च । अघटरूपास्ते प्रत्यक्षेणैव दृश्यन्त इति प्रत्यक्षविरोधः, जलाहरणादि तल्लिङ्गं च तेषु न दृश्यते ततोऽनुमानविरोधोऽपीति कथं ते नामादिघटा घटव्यपदेशभाजो भवेयुः ? । घटपदान्नामादिघटोपस्थितेरस्खलिताया दर्शनात् तत्र तत्पदशक्तेरव्याहतत्वात् स्वारसिकघटपदलक्षणो व्यपदेशस्तेषु न विरुध्यत इति **चेत्**, न, अन्तरङ्गप्रत्यासत्या भावघट एव घटपदशक्तेरभ्युपगमात्, नामादिषु तत्पदप्रयोगस्यास्वारसिकत्वादिति दिग् ।

अथवा लिङ्गवचने समाश्रित्य विशेषिततरं वस्तित्वच्छति शब्दनय इति दर्शयन्नाह भाष्यकृत्-

वत्थुमविसेसओ वा जं भिन्नाभिन्नवयणं पि ।

इच्छइ रिउसुत्तनओ विसेसियतरं तयं सद्दो ।।

कुत ? इत्याह-

धणिभेयाओ भेओ त्थीपुलिंगाभिहाणवच्चाणं ।

पडकुंभाणं व जओ तेणाभिन्नत्थमिट्ठं तं ।।

यादृशो ध्वनिस्तादृश एवार्थोऽस्येष्ट इति । अन्यलिङ्गवृत्तेस्तु शब्दस्य नान्यलिङ्गवाच्यमिच्छत्यसौ । नाप्यन्यवचनवृत्तेः शब्दस्य अन्यवचनवाच्यं वस्त्वभिधेयमिच्छत्यसौ इति भावः ।

समभिरूढेन सहास्य मतभेदं दर्शयति-

बहुपज्जायं पि मयं सद्दत्थवसेण सद्दस्स ।

'बहुपर्यायमपि' - 'इन्द्रः शक्रः पुरन्दरः' इत्यादिनानापर्यायवाच्यमप्येकमिन्द्रादिकं वस्तु **'शब्दस्य'** इन्द्रादेरिन्दनादिको योऽर्थस्तद्वशेन शब्दनयस्य मतमभिमतम् । इन्दन-शकन-पूर्दारणादीनामर्थानामेकस्मिन्निंद्रादिके वस्तुनि समावेशासम्भवात् । समभिरूढस्तु नैवं मन्यत इति स्फुटीभविष्यतीत्यनयोर्भेदः ।।

समभिरूढनयनिरुपणम् :

एकामेव संज्ञां समभिरोहतीति समभिरूढः । आह च भाष्यकृत्

जं जं सण्णं भासइ तं तं चिय समभिरोहए जम्हा ।

सण्णंतरत्थविमुहो तओ णओ समभिरूढो त्ति ।। २२३६ ।।

यां यां संज्ञां 'घटः' इत्यादिरूपां भाषते तां तामेव यस्मात् संज्ञान्तरार्थविमुखः कुटकुम्भादिशब्दवाच्यार्थनिरपेक्षः समभिरोहति- तत्तद्वाच्यार्थविषयत्वेन प्रमाणी करोति, ततः- तस्मादर्थसमभिरोहणात् समभिरूढो नयः । यो घटशब्दवाच्योऽर्थस्तं कुटकुम्भादिपर्यायशब्दवाच्यं नेच्छत्यसावित्यर्थः ।

वत्थूओ संकमणं होइ अवत्थु णए समभिरूढे ।। इति निर्युक्तिदलम् ।

एतन्नये परगतस्य दानहरणादेर्नास्त्येव सद्भावः, स्वगतं तत्फलं तु स्वगतदान हरणादि-अध्यवसायविशेषादेवेति विवेचितमन्यत्र ।।

अयं पुनरिह शब्दसमभिरूढयोरवान्तरविशेषोऽनुसंधेयः यदाद्येन बाह्यवस्तु सन्निधापितस्तदाकाराध्यवसायः फलक्षमोऽभ्युपेयः, द्वितीयेन तु वासनामात्रोत्थापित इति । इत्थमेव नैगमनये जीवाजीवयोर्हिंसा, सङ्ग्रहव्यवहारयोः षट्स्वेव कायेषु, ऋजुसूत्रे प्रतिजीवं भिन्ना भिन्ना सा, शब्दनये तु स्वपरिणामविशेषरूपैव सा इत्यादि नयविचारे शब्दसमभिरूढयोर्भावहिंसाद्याश्रित्य विषयभेदः सङ्गच्छते । एवम्भूतस्तु क्रियाकालान्यकालस्पर्शिपदार्थप्रतिषेधादेव विशिष्यत इति न तत्र युक्त्यन्तरं मृग्यम् ।।

एवम्भूतनयनिरूपणम् :

पदार्थव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाकालव्यापकपदार्थसत्ताभ्युपगमपर एवम्भूतः । आह च भाष्यकारः-

एवं जह सद्दत्थो संतो भूओ तह तयन्नहाभूओ ।

तेणेवंभूयनओ सद्दत्थपरो विसेसेणं ।। २२५१ ।।

अयं हि योषिन्मस्तकारूढं जलाहरणादिक्रियानिमित्तं घटमानमेव घटं मन्यते,

न तु स्वगृहकोणादिव्यवस्थितमचेष्टनादित्येवं विशेषतः शब्दार्थतत्परोऽयमिति भावः ।

वंजण-अत्थ-तदुभअं एवंभूओ विसेसेइ ।। २१८५ ।। इति निर्युक्तिदलं ।

एतन्मते कर्मधारयोऽपि पदानां न भवति सर्वस्यापि वस्तुनः प्रत्येकम खण्डरूपत्वात्, नीलोत्पलादिसमासश्च द्वयोः पदयोरेकाधिकरणतायां भवति । द्वयोश्चैकाधिकरणं नास्ति, अनन्तरमेव निषिद्धत्वात् इति कर्मधारयसमासोऽपि न युक्तः । **नन्वेवं** 'नीलघटः' इत्यादि समासात्, 'नीलो घटः' इत्यादि वाक्याच्च शाब्दबोधो न स्यादिति **चेत्**, गृहीतैवंभूतनयव्युत्पत्तीनां न स्यादेव । अन्येषां तु भवद् अयं भ्रमरूपतां नातिक्रामतीति गृहाण । समभिरूढेन ह्येकपदार्थे भेदसम्बन्धेनेतरपदार्थान्वयाभावव्याप्यत्वं स्वीक्रियते, मया तु सम्बन्धमात्रेणेतर-पदार्थान्वयाभावव्याप्यत्वमिति लाघवम् । तस्मान्नीलघट इत्यादौ नीलीभवनान्नीलः घटनाद् घटः इत्यादि क्रियाद्वयासमावेशादनन्वय एव । गुणादिवाचिनः शब्दास्त्वेतन्नये न सन्त्येव, सर्वेषामेव व्युत्पत्त्यर्थपर्यालोचनायां क्रियाशब्दत्वात् । क्रियाशब्दयोरपि च भिन्नयोः परस्परं अनन्वय एव, नील-घटादिविशृङ्खल पदोपस्थित्यनन्तरं तत्संसर्गबोधश्च मानसोत्प्रेक्षामात्रं तथैव च सर्वो व्यवहारः । यदि च नीलो घटः इत्यादेरखण्डनीलघटादिवाक्यार्थबोधः शाब्द एवानुभव-सिद्धस्तदा वाक्यार्थस्याखण्डत्वादखण्डवस्तुबोधाय वाक्ये लक्षणैव स्वीकर्तव्या । यथा वेदान्तीनां 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादौ 'तत् त्वमसि' इत्यादौ च । सा च न शक्यसम्बन्धरूपा पदद्वयात्मकवाक्यशक्ययोः सम्बन्धानभ्युपगमात् । किन्तु तात्पर्यसध्रीचीनाखण्डवस्तु-विषयकशाब्दबोधजनकशक्तिविशेषस्वभावा । वाक्यस्फोटाभ्युपगमे तु तत एवाभिव्यक्ताखण्डादखण्डवस्तुबोधो नानुपपन्न इति रहस्यम् ।।

समर्थिता इति श्रीमद्यशोविजयवाचकैः ।
श्रीसिद्धान्तानुसारेण नयाः शब्दादयस्त्रयः ।।

इति नयविचारः ।।

एते च नयाः प्रत्यक्षादिस्थलेऽजहद्वृत्त्या एकोपयोगरूपतया सापेक्षाः प्रमाणतामास्कन्दन्ति, शब्दस्थले च साकाङ्क्षखण्डवाक्यजसप्तभङ्ग्यात्मकमहावाक्यरूपाः प्रमाणं, न निरपेक्षाः । तदुक्तं –

जे वयणिज्जवियप्पा संजुज्जंतेसु होइ एएसु ।

सा ससमयपण्णवणा तित्थयरासायणा अण्णा ।। सन्मति १-५३।।

ये-वचनीयस्य-अभिधेयस्य, **विकल्पाः**- तत्प्रतिपादका अभिधानभेदाः **संयुज्यमानयोः**-अन्योन्यसम्बद्धयोर्भवन्ति । **अनयोः** द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिक नयवाक्ययोः । ते च कथंचिन्नित्य आत्मा कथंचिदनित्य इत्येवमादयः । **सा** एषा **स्वसमयस्य**-तत्त्वार्थस्य **प्रज्ञापना**-निदर्शना, **अन्या**-निरपेक्षनयप्ररूपणा **तीर्थकरस्याशातना** अधिक्षेपः तत्प्ररूपणोत्तीर्णत्वात् । उत्सर्गतः स्याद्वाददेशनाया एव तीर्थकरेण विहितत्वात् । **'विभज्जवायं च वियागरेज्जा'** इत्याद्यागम वचनोपलम्भात् । पुरुषविशेषमपेक्ष्यापवादतस्त्वेकनयदेशनायामपि न दोषः । तदाह सन्मतौ-

पुरिसज्जायं तु पडुच्च, जाणओ पन्नवेज्ज अन्नयरं ।

परिकम्मणानिमित्तं, ठाएहि सो विसेसंपि ।। सन्मति १-५४ ।।

पुरुषजातं-प्रतिपन्नद्रव्यपर्यायान्यतरस्वरूपं श्रोतारं, **प्रतीत्याश्रित्य ज्ञकः** स्याद्वादवित्, **प्रज्ञापयेदन्यतरत्** अज्ञात**परिकर्मनिमित्तं** अज्ञातांशसंस्कारपाटवार्थम्, ततः परिकर्मितमतये **स्थापयिष्यत्यसौ** स्याद्वाद**विशेषमपि** परस्परविनिर्भागरूपम् । ततश्चेयं एकनयदेशनापि भावतः स्याद्वाददेशनैवेति फलितम् ।।

सप्तभङ्गीनिरूपणम् :

अतः स्याद्वाददेशनाया एव परिणतजिनवचनानामभ्यर्हितत्वात् तद्वाक्यमुपदर्श्यते-

(१) स्यादस्त्येव घटः ।

(२) स्यान्नास्त्येव ।

(३) स्यादवक्तव्य एव ।

(४) स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव ।

(५) स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्य एव ।

(६) स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एव ।

(७) स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एव ।

तत्रासत्त्वोपसर्जन-सत्त्वविवक्षायां प्रथमो भङ्गः ।

सत्त्वोपसर्जनासत्त्वविवक्षायां द्वितीयः ।

युगपदुभयविवक्षायां तृतीयः ।

एते च त्रयो भङ्गाः गुण-प्रधानभावेन सकलधर्मात्मकैकवस्तुप्रतिपादकाः सन्तः सकलादेशाः । स्यात्कारपदलाञ्छितैतद्वाक्याद् विवक्षाकृतप्रधानभावसदाद्येक धर्मात्मकस्यापेक्षितापरशेषधर्मक्रोडीकृतस्य वाक्यार्थस्य प्रतीतेः । विवक्षाविरचित-द्वित्रिधर्मानुरक्तस्य स्यात्कारपदसंसूचितसकलधर्मस्वभावस्य धर्मिणो वाक्यार्थस्य प्रतिपादका वक्ष्यमाणास्तु चत्वारो विकलादेशा इति केचित् सङ्गिरन्ते । ते चेमे-

(१) स्यादस्ति नास्ति च घटः इति प्रथम विकलादेशः ।

(२) स्यादस्त्यवक्तव्यश्च घटः इति द्वितीयः ।

(३) स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घटः इति तृतीयः ।

(४) स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च घटः इति चतुर्थः ।

तत्र वस्तुनो देशो यदैकः सत्वे, अपरश्चासत्वे आदिश्यते तदा प्रथमो विकलादेशः । आद्ययोरपि भङ्ग्योः स्वद्रव्यपरद्रव्याभ्यां विभज्यत एव घट इति तत्समुदायात् कोऽस्य विशेष इति **चेत्**, न तत्रास्तित्वनास्तित्वावच्छेदकद्वारा विभागेऽपि अवयवद्वारा विभागाभावात्, अत्र तु तद्द्वारा विभागेन विशेषात् । तद्द्वारा विभागकरण एव किं बीजमिति **चेत्** ? सावयवनिरवयवात्मकवस्तुनः तथाप्रतिपत्तिजनकसावयव-निरवयवत्वशबलैकस्वरूपवाक्यत्वेन प्रामाण्यरक्षार्थ-मिति दिग् ।।

एकस्य देशस्य सत्त्वेनापरस्य च युगपदुभयथादेशे द्वितीयो विकलादेशः ।

देशेऽसत्वस्य देशे च युगपदुभययोर्विवक्षणे षष्ठः ।

देशेऽस्तित्वस्य, देशे नास्तित्वस्य, देशे च युगपदुभययोर्विविक्षायां सप्तमः ।।

एते च परस्पररूपापेक्षया सप्तभङ्ग्यात्मकाः प्रत्येकं स्वार्थं प्रतिपादयन्ति नान्यथेति प्रत्येकं तत्समुदायो वा सप्तभङ्ग्यात्मकः प्रतिपाद्यमपि तथाभूतं दर्शयतीति सम्प्रदायविदो वदन्ति ।

तत्र जिज्ञासितसप्तधर्मात्मकप्रतिपादकत्वपर्याप्त्यधिकरणमहावाक्यत्वरूप-सप्तभङ्गीत्वं समुदाय एव, निरुक्तप्रतिपादकत्वाधिकरणवाक्यत्वरूपं च तत् प्रत्येकमपीति विवेकः ।

अत एव 'स्यात्'पदलाञ्छनविवक्षितधर्मावधारकत्वेन स्वार्थमात्रप्रतिपादनप्रवणत्वेन च द्विधा सुनयत्वमुदाहरन्ति । आद्यं सप्तभङ्ग्यात्मकमहावाक्यैकवाक्यतापन्नवाक्ये, अन्त्यं चोदासीने धर्मान्तरोपादानप्रतिषेधाकारिणि । इत्थं च 'स्यादस्ति' इत्यादि प्रमाणं, 'अस्त्येव' इत्यादि दुर्नयः, 'अस्ति' इत्यादिकः सुनयः न तु स व्यवहाराङ्गं । 'स्यादस्ति एव' इत्यादिस्तु दुर्नय एव व्यवहारकारणं स्वपरानुवृत्तव्यावृत्तवस्तुविषयप्रवर्तकवाक्यस्य व्यवहारप्रवर्तकत्वादिति ग्रन्थकृतो विवेचयन्ति ।

अथानन्तधर्मात्मके वस्तुनि तत्प्रतिपादकवचनस्य सप्तधा कल्पनेऽष्टमनवमविकल्पयोः कल्पनमपि किं न क्रियत इति **चेन्न** तत्परिकल्पननिमित्ताभावात् । इत्ययमुक्तन्यायेन वस्तुप्रतिपादने सप्तविध एव वचनमार्ग इति स्थितम् ।

सप्तभङ्ग्यां नयावतार :

अत्रैवं नयविभागमुपदर्शयन्ति श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः-

एवं सत्तवियप्पो वयणपहो होई अत्थपज्जाए ।

वंजणपज्जाए पुण सवियप्पो निव्वियप्पो य ।। सन्म० १-४१ ।।

तत्र प्रथमो भङ्गः सङ्ग्रहे सामान्यग्राहिणि ।

'नास्ति' इत्ययं तु व्यवहारे विशेषग्राहिणि ।

ऋजुसूत्रे तृतीयः ।

चतुर्थः सङ्ग्रहव्यवहारयोः ।

पञ्चमः सङ्ग्रहर्जुसूत्रयोः ।

षष्ठो व्यवहारर्जुसूत्रयोः ।

सप्तमः सङ्ग्रह-व्यवहारर्जुसुत्रेषु । इति विभागः ।

व्यञ्जनपर्याये- शब्दनये **पुनः सविकल्पः**- प्रथमे पर्यायशब्दवाच्यता विकल्प सद्भावेऽप्यर्थस्यैक्यात् । द्वितीयतृतीययो**र्निर्विकल्पश्च**, द्रव्यार्थात् सामान्यलक्षणान्निर्गतस्य पर्यायरूपस्य विकल्पस्याभिधायकत्वात्तयोः । समभिरूढस्य पर्यायभेदभिन्नार्थत्वात् एवम्भूतस्यापि विवक्षितक्रियाकालार्थत्वात् । तथा च घटो नाम घटवाचकयावच्छब्दवाच्यः शब्दनयेऽस्त्येव समभिरूढैवम्भूतयोर्नास्त्येवेति द्वौ भङ्गौ लभ्येते, लिङ्ग-संज्ञाक्रियाभेदेन भिन्नस्यैकशब्दावाच्यत्वाच्छब्दादिषु तृतीयः । प्रथमद्वितीयसंयोगे चतुर्थः तेष्वेव चानभिधेयसंयोगे पञ्चमषष्ठ-सप्तम वचनमार्गा भवन्ति ॥

इति बुधहितहेतोर्दर्शिताः सप्तभङ्गाः
जिनवचनसमुद्रोत्तुङ्गगङ्गातरङ्गाः ।
दलितकुनयवादं निर्विशेषं मया श्री-
नयविजयगुरुणां प्राप्य पूर्णप्रसादम् ॥

उपसंहार :

तदेवं सप्तभङ्गीमङ्गीकुर्वाणमनेकान्तात्मकमेव वस्तु नयप्रमाणात्मकचैतन्य गोचरः सदृशासदृशपर्यायाभ्यामेकान्तसदसद्विलक्षणस्य जात्यन्तरात्मकस्यैव घटादेरनुभूयमानत्वात् ।

ननु सर्वत्रानेकान्त इति नियमेऽनेकान्तेऽप्यनेकान्तादेकान्तादनेकान्तप्रसक्तिरिति **चेदत्र** वदन्ति-

भयणा वि हु भइयव्वा जह भयणा भयइ सव्वदव्वाइं ।

एवं भयणा नियमो वि होइ समयाविरोहेण ।। सन्म. ३-२७ ।।

यथा भजना-अनेकान्तः **भजते**-सर्ववस्तुनि तदेतत्स्वभावतया ज्ञापयति । तथा **भजनापि**- अनेकान्तोऽपि, भजनीया- अनेकान्तोऽप्यनेकान्त इतीष्टोऽस्मा-कमिति । नयप्रमाणापेक्षयैकान्तश्चेत्येवमसौ ज्ञापनीयः । तथा हि-नित्यानित्यादिशबलैकस्वरूपे वस्तुनि नित्यत्वानित्यत्वाद्येकतरधर्मावच्छेद-कावच्छेदेन वोभयात्मकत्वं । तथा नित्यानित्यत्वादिसप्तधर्मात्मकत्व प्रतिपादकतापर्याप्त्यधिकरणेऽनेकान्तमहावाक्येऽपि सकलनयवाक्यावच्छे देनोक्तरूपमनेकान्तात्मकत्वं प्रत्येकनयवाक्यावच्छेदेन चैकान्तात्मकत्वं न दुर्वचमिति भावः ।

न चैवमव्यापकोऽनेकान्तवादः, 'स्यात्'पदसंसूचितानेकान्तगर्भस्यैवेकान्त-स्वभावत्वात्, अनेकान्तस्यापि 'स्यात्' कारलाञ्छनैकान्तगर्भस्यानेकान्तस्वभावत्वात् । ततः सर्वमनेकान्तात्मकं, अन्यथा प्रतिनियतरूपतानुपपत्तेरिति व्यवस्थितम् ।

अनेकान्तव्यवस्थितिश्रद्धैव भावतः सम्यक्त्वं तद्विकलानामुत्कृष्ट चारित्रानुष्ठानस्यापि तथाविधफलाभावात् । तदुक्तं वादिगजकेसरिणा श्री सिद्धसेनदिवाकरेण-

चरणकरणप्पहाणा ससमयपरसमयमुक्कवावारा ।

चरणकरणस्स सारं णिच्छयसुद्धं न याणंति ।। सन्म. ।।

चरणकरणयोः प्रधानास्तदनुष्ठानतत्पराः, **स्वसमयपरसमयमुक्तव्यापाराः**- 'अयं स्वसमयोऽनेकान्तवस्तुस्वरूपप्ररूपणाद्, अयं च परसमयः केवलनया-भिप्रायप्रतिपादनात्' इत्यस्मिन् परिज्ञानेऽनादृताः । अनेकान्तात्मक-वस्तुतत्त्वं यथावदनवबुध्यमानास्तदितरव्यवच्छेदेनेति यावत् । **चरण-करणयोः सारं** फलं ।

निश्चयशुद्धं: निश्चयश्च तच्छुद्धं च । ज्ञानदर्शनोपयोगात्मकं निष्कलंकं **न जानन्ति** नानुभवन्ति । ज्ञानदर्शनचारित्रात्मककारणप्रभवत्वात् तस्य, कारणाभावे च कार्यस्यासंभवात्, अन्यथा तस्य निर्हेतुकत्वापत्तेः । चरणकरणयोश्च चारित्रात्मकत्वात् द्रव्यपर्यायात्मकजीवादितत्त्वाविगमस्वभावरुच्यभावेऽभावात् । इति मोक्षार्थिभिः पुरुषसिंहैरनेकान्ततत्त्वपरिज्ञानाय महानुद्यमो विधेयः ।।

अनेकान्त- प्रशस्ति :

विना यं लोकानामपि न घटते संव्यवहृतिः ।
समर्था नैवार्थानधिगमयितुं शब्दरचना ।।
वितण्डा चाण्डाली स्पृशति च विवादव्यसनिनं
नमस्तस्मै कस्मैचिदनिशमनेकान्तमहसे ।।१।।

कथायां लुप्यन्ते वियति बत तारा इव रवौ
नयाः सर्वे दीप्ता अपि समुदिते यत्र सहसा ।
उदासीने त्वब्धाविव जलतरङ्गा बहुविधाः
समन्ताल्लीयन्ते श्रयत तमनेकान्तमनिशम् ।।२।।

अनेकान्तं वादं यदि सकलनिर्वाहकुशलं
मतानि स्पर्द्धन्ते नयलवसमुत्थानि बहुधा ।
तदा किं नो भावो बहुलकलिकौतुहलवशात्
घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः ।।३।।

मिथो द्राग् युध्यन्ते महिषसदृशा ये परनयाः
प्रयातारः खेदं त इह बहुधा जर्जरतराः ।
अनेकान्तो दृष्टा पुनरवनिपालः प्रकृतितः
परावृत्तिं नैभ्यो व्रजति परिपूर्णाभिलषितः ।।४।।

न यन्नाम ब्रूते समयविगमहीपरवशाः
हृदा तु न स्नेहं न त्यजति विपुलं यद्गुणकृतम् ।

अनेकान्तस्याग्रे कलितविनया मौनरचना-
दिदानीं सञ्जाता ननु नववधूर्वादिपरिषत् ॥५॥

क्रियायां ज्ञाने च व्यवहृतिविधौ निश्चयपदेऽ
पवादे चोत्सर्गे कलितमिलितापेक्षणमुखैः ।
हतैकान्तध्वान्तं मतमिदमनेकान्तमहसा
पवित्रं जैनेन्द्रं जयति सितवस्त्रैर्यतिवृषैः ॥६॥

इमं ग्रन्थं कृत्वा विषयविषविक्षेपकलुषं
फलं नान्यद् याचे किमपि भवभूतिप्रकृतिकम् ।
इहामुत्रापि स्तान्मम मतिरनेकान्तविषये
ध्रुवेत्येतद् याचे तदिदमनुयाचध्वमपरे ॥७॥

॥ नयाधिगमः ॥

॥ तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्यम् ॥

वाचकेन्द्र श्रीउमास्वातिजी

।। तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्यम् ।।

।। नयाधिगमः ।।

नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दाः नयाः ।।३४।।

(भा०) नयान् वक्ष्यामः । तद्यथा नैगमः, सङ्ग्रहो, व्यवहार, ऋजुसूत्रः, शब्द इत्येते पञ्च नया भवन्ति ।।३४।।

तत्र-

आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ।।३५।।

(भा०) आद्य इति सूत्रक्रमप्रामाण्यान्नैगममाह । स द्विभेदो देशपरिक्षेपी सर्वपरिक्षेपी चेति । शब्दस्त्रिभेदः साम्प्रतः समभिरूढ एवम्भूत इति ।

अत्राह । किमेषां लक्षणमिति । **अत्रोच्यते** निगमेषु येऽभिहिताः

शब्दास्तेषामर्थः शब्दार्थपरिज्ञानं च देशसमग्रग्राही नैगमः । अर्थानां सर्वैकदेशसङ्ग्रहः । लौकिकसम उपचारप्राप्यो विस्तृतार्थो व्यवहारः । सतां साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्रः । यथार्थाभिधानं शब्दः । नामादिषु प्रसिद्धपूर्वाच्छब्दादर्थे प्रत्ययः साम्प्रतः । सत्स्वर्थेष्वसङ्क्रमः समभिरूढः व्यञ्जनार्थयोरेवम्भूत इति ।।

अत्राह । उद्दिष्टा भवता नैगमादयो नयाः । तन्नया इति कः पदार्थ इति । नया प्रापकाः कारकाः साधका निर्वर्तका निर्भासका उपलम्भका व्यञ्जका इत्यनर्थान्तरम् । जीवादीन्पदार्थान्नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्तीति नयाः ।

अत्राह । किमेते तन्त्रान्तरीया वादिन आहोस्वित्स्वतन्त्रा एव चोदकपक्षग्राहिणो मतिभेदेन विप्रधाविता इति । **अत्रोच्यते** । नैते तन्त्रान्तरीया,नापि स्वतन्त्रा मतिभेदेन विप्रधाविताः । ज्ञेयस्य त्वर्थस्याध्यवसायान्तराण्येतानि । तद्यथा । घट इत्युक्ते योऽसौ चेष्टाभिर्निर्वृत्त ऊर्ध्वकुण्डलसौष्ठायतवृत्तग्रीवोऽधस्तात्परिमण्डलो जलादीनामाहरणधारणसमर्थ उत्तरगुणनिर्वर्तनानिर्वृत्तो द्रव्यविशेषस्ततस्मिन्नेक-स्मिन्विशेषवति तज्जातीयेषु वा सर्वेष्वविशेषात्परिज्ञानं नैगमनयः ।। एकस्मिन्वा बहुषु वा नामादिविशेषितेषु साम्प्रतातीतानागतेषु घटेषु सम्प्रत्ययः सङ्ग्रहः । तेष्वेव लौकिकपरीक्षकग्राह्येषूपचारगम्येषु यथास्थूलार्थेषु संप्रत्ययो व्यवहारः । तेष्वेव सत्सु साम्प्रतेषु संप्रत्यय ऋजुसूत्रः । तेष्वेव साम्प्रतेषु नामादीनामन्यतमग्राहिषु प्रसिद्धपूर्वकेषु घटेषु सम्प्रत्ययः शब्दः । तेषामेव साम्प्रतानामध्यवसायासङ्क्रमो वितर्कध्यानवत् समभिरूढः । तेषामेव व्यञ्जनार्थयोरन्योऽन्यापेक्षार्थग्राहित्वमेवम्भूत इति ।।

अत्राह । एवमिदानीमेकस्मिन्नर्थेऽध्यवसायनानात्वान्ननु विप्रतिपत्तिप्रसङ्ग इति । **अत्रोच्यते** । यथा सर्वमेकं सदविशेषात् । सर्वं द्वित्वं जीवाजीवात्मकत्वात् । सर्वं त्रित्वं द्रव्यगुणपर्यायावरोधात् । सर्वं चतुष्टयं चतुर्दर्शनविषयावरोधात् ।

सर्वं पञ्चत्वमस्तिकायावरोधात् । सर्वं षट्त्वं षड्द्रव्यावरोधादिति । यथैता न विप्रतिपत्तयोऽथ चाध्यवसायस्थानान्तराण्येतानि तद्वन्नयवादा इति । किं चान्यत् । यथा मतिज्ञानादिभिः पञ्चभिर्ज्ञानैर्धर्मादीनामस्तिकायानामन्यतमोऽर्थः पृथक् पृथगुपलभ्यते, पर्यायविशुद्धिविशेषादुत्कर्षेण, न च ता विप्रतिपत्तयः तद्वन्नयवादाः । यथा वा प्रत्यक्षानुमानोपमानाप्तवचनैः प्रमाणैरेकोऽर्थः प्रमीयते, स्वविषयनियमात्, न च ता विप्रतिपत्तयो भवन्ति, तद्वन्नयवादा इति ।

आह च-

नैगमशब्दार्थानामेकानेकार्थनयगमापेक्षः ।
देशसमग्रग्राही व्यवहारी नैगमो ज्ञेयः ।।१।।

यत्सङ्गृहीतवचनं सामान्ये देशतोऽथ च विशेषे ।
तत्सङ्ग्रहनियतं ज्ञानं विद्यान्नयविधिज्ञः ।।२।।

समुदायव्यक्त्याकृतिसत्तासञ्ज्ञादिनिश्चयापेक्षम् ।
लोकोपचारनियतं व्यवहारं विस्तृतं विद्यात् ।।३।।

साम्प्रतविषयग्राहकमृजुसूत्रनयं समासतो विद्यात् ।
विद्याद्यथार्थशब्दं विशेषितपदं तु शब्दनयम् ।।४।। इति।।

अत्राह । अथ जीवो नोजीवः अजीवो नोअजीव इत्याकारिते केन नयेन कोऽर्थः प्रतीयत इति । **अत्रोच्यते** । जीव इत्याकारिते नैगमदेशसङ्ग्रहव्यवहार-र्जुसूत्रसाम्प्रतसमभिरूढैः पञ्चस्वपि गतिष्वन्यतमो जीव इति प्रतीयते । कस्मात् । एते हि नया जीवं प्रत्यौपशमिकादियुक्तभावग्राहिणः । नोजीव इत्यजीवद्रव्यं जीवस्य वा देशप्रदेशौ । अजीव इत्यजीवद्रव्यमेव । नोअजीव इति जीव एव, तस्य वा देशप्रदेशाविति । एवम्भूतनयेन तु जीव इत्याकारिते भवस्थो जीव प्रतीयते । कस्मात् । एष हि नयो जीवं प्रत्यौदयिकभावग्राहक एव । जीवतीति जीवः प्राणिति प्राणान्धारयतीत्यर्थः । तच्च जीवनं सिद्धे न विद्यते तस्माद्भवस्थ

एव जीव इति । नोजीव इत्यजीवद्रव्यं सिद्धो वा । अजीव इत्यजीवद्रव्यमेव । नोअजीव इति भवस्थ एव जीव इति । समग्रार्थग्राहित्वाच्चास्य नयस्य नानेन देशप्रदेशौ गृह्येते । एवं जीवौ जीवा इति द्वित्वबहुत्वाकारितेष्वपि । सर्वसङ्ग्रहणे तु जीवो नोजीवः अजीवो नोअजीवः जीवौ नोजीवौ अजीवौ नोअजीवौ इत्येकद्वित्वाकारितेषु शून्यम् । कस्मात् । एष हि नयः सङ्ख्यानन्त्याज्जीवानां बहुत्वमेवेच्छति यथार्थग्राही । शेषास्तु नया जात्यपेक्षमेकस्मिन्बहुवचनत्वं बहुषु बहुवचनं सर्वकारितग्राहिण इति । एवं सर्वभावेषु नयवादाधिगमः कार्यः ।

अत्राह । पञ्चानां ज्ञानानां सविपर्यायाणां कानि को नयः श्रयत इति । **अत्रोच्यते** । नैगमादयस्त्रयः सर्वाण्यष्टौ श्रयन्ते । ऋजुसूत्रनयो मतिज्ञान-मत्यज्ञानवर्जानि षट् ।

अत्राह । कस्मान्मतिं सविपर्ययां न श्रयत इति । **अत्रोच्यते** । श्रुतस्य सविपर्ययस्योपग्रहत्वात् । शब्दनयस्तु द्वे एव श्रुतज्ञानकेवलज्ञाने श्रयते ।

अत्राह । कस्मान्नेतराणि श्रयत इति । **अत्रोच्यते** । मत्यवधिमनःपर्यायाणां श्रुतस्यैवोपग्राहकत्वात् । चेतनाज्ञस्वाभाव्याच्च सर्वजीवानां नास्य कश्चिन्मिथ्यादृष्टिरज्ञो वा जीवो विद्यते । तस्मादपि विपर्ययान्न श्रयत इति । अतश्च प्रत्यक्षानुमानोपमा-नाप्तवचनानामपि प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायत इति । अत्राह च-

विज्ञायैकार्थपदान्यर्थपदानि च विधानमिष्टं च ।
विन्यस्य परिक्षेपान्नयैः परीक्ष्याणि तत्त्वाणि ।।१।।

ज्ञानं सविपर्यासं त्रयः श्रयन्त्यादितो नयाः सर्वम् ।
सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानं मिथ्यादृष्टेर्विपर्यासः ।।२।।

ऋजुसूत्रः षट् श्रयते मतेः श्रुतोपग्रहादनन्यत्वात् ।
श्रुतकेवले तु शब्दः श्रयते नाऽन्यच्छ्रुताङ्गत्वात् ।।३।।

मिथ्यादृष्ट्यज्ञाने न श्रयते नास्य कश्चिदज्ञोऽस्ति ।
ज्ञस्वाभाव्याज्जीवो मिथ्यादृष्टिर्न चाप्यज्ञः ।।४।।

इति नयवादाश्चित्राः क्वचिद्विरुद्धा इवाथ च विशुद्धाः ।
लौकिकविषयातीतास्तत्त्वज्ञानार्थमधिगम्या ।।५।।३५।।

॥ नयोपदेशः ॥

महोपाध्यायश्रीयशोविजयजीगणिवर

।। नयोपदेशः ।।

ऐन्द्रधाम हृदि स्मृत्वा नत्वा गुरुपदांबुजम् ।

नयोपदेशः सुधियां विनोदाय विधीयते ।।१।।

स्मृत्वा श्रीशारदामत्र **श्रीभावप्रभसूरिभिः** ।

स्मृत्यर्थं लिख्यते कश्चित्पर्यायो ह्यस्य वृत्तितः ।।। इति ।

इन्द्र आत्मा तस्य संबंधि ऐन्द्रं धाम तेजः । 'ऐं' इति वाग्बीजमपि स्मृतम् ।।१।।

सत्त्वासत्त्वाद्युपेतार्थेष्वपेक्षावचनं नयः ।

न विवेचयितुं शक्यं विनापेक्षं हि मिश्रितम् ।।२।।

सत्त्वासत्त्वनित्यानित्यभेदाभेदादयो ये तैरुपेता येऽर्था जीवपुद्गलादयस्तेषु अपेक्षावचनं प्रतिनियतधर्मप्रकारकापेक्षाख्यशाब्दबोधजनकं वचनं नयवाक्यमित्यर्थः ।

इदं वचनरूपस्य नयस्य लक्षणं हि=निश्चितं मिश्रितं=नानाधर्मैः करंबितं वस्तु अपेक्षां विना विवेचयितुं न शक्यम् ।।२।।

यद्यप्यनन्तधर्मात्मा वस्तु प्रत्यक्षगोचरः ।
तथापि स्पष्टबोधः स्यात् सापेक्षो दीर्घतादिवत् ।।३।।

वस्तु घटादिकं आदीयतेऽनेनेत्यादि ज्ञानं दीर्घताया आदि ज्ञानं दीर्घताप्रत्यक्षवदित्यर्थः ।।३।।

नानानयमयो व्यक्तो मतभेदो ह्यपेक्षया ।
कोट्यन्तरनिषेधस्तु प्रस्तुतोत्कटकोटिकृत् ।।४।।

बौद्धोपनिषदादिदर्शनो नानानयमयः कोट्यन्तरस्येतरनयार्थस्य निषेधो निराकरणं । कथंभूतो निषेधः ? प्रस्तुता या उत्कटकोटिस्तत्कृत्, प्रस्तुतकोटेरुत्कटत्वकृदित्यर्थः ।।४।।

तेन सापेक्षभावेषु प्रतीत्यवचनं नयः ।
अभावाभावरूपत्वात् सापेक्षत्वं विधावपि ।।५।।

तेन हेतुना परस्परप्रतियोगिकेषु भावेषु विधौ अस्तित्वादिभावेऽपि अभावाभावरूपत्वान्नास्तित्वाद्यभावस्वरूपत्वात् ।।५।।

सप्तभंग्यात्मकं वाक्यं प्रमाणं पूर्णबोधकृत् ।
स्यात्पदादपरोल्लेखि वचो यच्चैकधर्मगम् ।।६।।

सप्तभंग्यात्मकं स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेत्यादिकं वाक्यं प्रमाणं । यतः पूर्णबोधकृत् स्यात्कारपदात् ।।६।।

यथा नैयायिकैरिष्टा चित्रे नैकैकरूपधीः ।
नयप्रमाणभेदेन सर्वत्रैव तथार्हतैः ।।७।।

आर्हतैः=जैनसूरिभिः ।।७।।

अयं न संशयः कोटेरैक्यात्र च समुच्चयः ।
न विभ्रमो यथार्हत्वादपूर्णत्वाच्च न प्रमा ।।८।।

अयं नयाख्यो बोधः कोटेः प्रकारस्यैक्यात् संशयो न ।।८।।

न समुद्रोऽसमुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते ।
नाप्रमाणं प्रमाणं वा प्रमाणांशस्तथा नयः ।।९।।

स्वार्थे सत्याः परैर्नुन्ना असत्या निखिला नयाः ।
विदुषां तत्र नैकान्ता इति दृष्टं हि संमतौ ।।१०।।

स्वार्थे त्वविषये सत्या निश्चायकाः परैर्नयैर्नुन्ना अप्रामाण्यशंकाविषयीकृताः । असत्या अनिश्चायका निखिला नया नैगमादयो विदुषां नैकान्ता वक्तुं युक्ता इति दृष्टं परीक्षितं संमतिग्रन्थे ।।१०।।

बौद्धादिदृष्टयोऽप्यत्र वस्तुस्पर्शेन नाप्रमाः ।
उद्देश्यसाधने रत्नप्रभायां रत्नबुद्धिवत् ।।११।।

अत्र नयग्रन्थे उद्देश्यं यदभिनिविष्टेतरनयखंडनं तत्साधने तत्साधननिमित्तं बौद्धादिदृष्टयोऽपि बौद्धादिनयपरिग्रहा अपि वस्तुस्पर्शेन शुद्धपर्यायादिवस्तुप्राप्त्या नाप्रमाः फलतो न मिथ्यारूपा इत्यर्थः ।।११।।

अयं संक्षेपतो द्रव्यपर्यायार्थतया द्विधा ।
द्रव्यार्थिकमते द्रव्यं तत्त्वं नेष्टमतः पृथक् ।।१२।।

अयं सामान्यलक्षणलक्षितो नयो द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकः ।।१२।।

तिर्यगूर्ध्वप्रचयिनः पर्यायाः खलु कल्पिताः ।
सत्यं तेष्वन्वयि द्रव्यं कुंडलादिषु हेमवत् ।।१३।।

तेषु पर्यायेषु द्रव्यं सत्यं, कल्पिता=वासनाविशेषप्रभवविकल्पसिद्धा अपारमार्थिका इति यावत् ।।१३।।

आदावन्ते च यन्नास्ति मध्येऽपि हि न तत्तथा ।

वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ।।१४।।

किंतु वितथैः शशविषाणादिभिः काल्पनिकत्वे सदृशाः सन्तोऽनादिलौकिकव्यवहारवासनावशात् अवितथा इव लक्षिता लोकैरिति शेषः ।।१४।।

अयं द्रव्योपयोगः स्याद्विकल्पेऽन्त्ये व्यवस्थितः ।

अन्तरा द्रव्यपर्यायधीः सामान्यविशेषवत् ।।१५।।

अयं द्रव्योपयोगो द्रव्यार्थिकनयजन्यो बोधोऽन्त्ये विकल्पे शुद्धसंग्रहाख्ये व्यवस्थितः पर्यायबुध्द्याऽविचलितः स्यात्, अन्तरा शुद्धसंग्रहशुद्धर्जुसूत्रविषयमध्ये द्रव्यपर्यायधीरेव स्यात् सामान्यविशेषबुद्धिवत् ।।१५।।

पर्यायार्थमते द्रव्यं पर्यायेभ्योऽस्ति न पृथक् ।

यत्तैरर्थक्रिया दृष्टा नित्यं कुत्रोपयुज्यते ।।१६।।

पर्यायार्थमते द्रव्यं द्रव्यपदार्थः सदृशक्षणसन्ततिरेव न तु पर्यायेभ्यः पृथगस्ति यद्यस्मात्कारणात्तैः पर्यायैरर्थक्रिया जलाहरणादिरूपा दृष्टा नित्यमप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं वस्तु कुत्रोपयुज्यंते ? न कुत्रचिदित्यर्थः ।।१६।।

यथा लूनपुनर्जातनखादावेकतामतिः ।

तथैव क्षणसादृश्याद् घटादौ द्रव्यगोचरा ।।१७।।

तार्किकाणां त्रयो भेदा आद्या द्रव्यार्थिनो मताः ।

सैद्धान्तिकानां चत्वारः पर्यायार्थगताः परे ।।१८।।

तार्किकाणां वादिसिद्धसेनमतानुसारिणामाद्याः त्रयो भेदाः नैगमसंग्रहव्यवहारलक्षणा द्रव्यार्थिका इति, सैद्धान्तिकानां तु जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणवचनानुसारिणां चत्वार आद्या ऋजुसूत्रसहिता द्रव्यार्थिका इति । ऋजुसूत्रादयश्चत्वारः पर्यायार्थिका वादिनामिति, शब्दादयः त्रय एव च क्षमाश्रमणानामिति । ऋजुसूत्रो यदि द्रव्यं नाभ्युपेयात्तदा उक्तं "**उज्जुसुयस्स एगे अणुवउत्ते एगं दव्वावस्सयं पुहत्तेणं**" इति सूत्रं

विरुध्येतेति सैद्धान्तिकाः, तार्किकानुसारिणस्तु अतीतानागतपरकीयभेदपृथक्त्व-परित्यागादनुयोगद्वारसूत्रेणेत्यादि ज्ञेयम् ।।१८।।

नैगमः संग्रहश्चैव व्यवहारर्जुसूत्रकौ ।
शब्दः समभिरूढाख्य एवंभूतश्च सप्त ते ।।१९।।

निगमेषु भवो बोधो नैगमस्तत्र कीर्तितः ।
तद्भवत्वं पुनर्लोकप्रसिद्धार्थोपगन्तृता ।।२०।।

निगमेषु लोकेषु भवो बोधो नैगमः तद्भवत्वं तदाश्रयेणोत्पत्तिकत्वं लोकप्रसिद्धार्थस्वीकर्तृत्वम् ।।२०।।

तत्प्रसिद्धिश्च सामान्यविशेषाद्युभयाश्रया ।
तदन्यतरसंन्यासे व्यवहारो हि दुर्घटः ।।२१।।

लोकप्रसिद्धिः सामान्यविशेषाद्युभययुता तेषां भेदानां मध्येऽन्यतरस्य संन्यासे परित्यागे ।।२१।।

संग्रहः संगृहीतस्य पिंडितस्य च निश्चयः ।
संगृहीतं परा जातिः पिंडितं त्वपरा स्मृता ।।२२।।

एकद्वित्रिचतुःपंचषड्भेदा जीवगोचराः ।
भेदाभ्यामस्य सामान्यविशेषाभ्यामुदीरिताः ।।२३।।

उपचारा विशेषाश्च नैगमव्यवहारयोः ।
इष्टा ह्यनेन नेष्यन्ते शुद्धार्थे पक्षपातिना ।।२४।।

उपचारेण बहुलो विस्तृतार्थश्च लौकिकः ।
यो बोधो व्यवहाराख्यो नयोऽयं लक्षितो बुधैः ।।२५।।

दह्यते गिरिरध्वासौ याति स्रवति कुंभिका ।
इत्यादिरूपचारोऽस्मिन् बाहुल्येनोपलभ्यते ।।२६।।

गिरिस्थतृणदग्धत्वं, अध्वनि मार्गे गच्छन्नरे लक्षणा, कुंडीस्थजलादि ।।२६।।

विस्तृतार्थो विशेषस्य प्राधान्यादेष लौकिकः ।
पंचवर्णादिभृंगादौ श्यामत्वादिविनिश्चयात् ।।२७।।

पंचवर्णाभिलापेऽपि श्रुतव्युत्पत्तिशालिनाम् ।
न तद्बोधे विषयताऽपरांशे व्यावहारिकी ।।२८।।

अपरांशे कृष्णेतरवर्णांशे व्यावहारिकी विषयता नास्ति ।।२८।।

भावत्वे वर्तमानत्वव्याप्तिधीरविशेषिता ।
ऋजुसूत्रः श्रुतः सूत्रे शब्दार्थस्तु विशेषितः ।।२९।।

इष्यतेऽनेन नैकत्रावस्थान्तरसमागमः ।
क्रियानिष्ठाभिदाधारद्रव्याभावाद्यथोच्यते ।।३०।।

अनेन ऋजुसूत्रनयेन एकत्र धर्मिणि अवस्थान्तरसमागमो भिन्नावस्थावाचकपदार्थान्वयो नेष्यते न स्वीक्रियते, कुतः ? क्रिया साध्यावस्था, अन्या च निष्ठा सिद्धावस्था तयोर्या भिदा भिन्नकालसंबन्धस्तदाधारस्यैकद्रव्यस्याभावात् ।।३०।।

पलालं न दहत्यग्निर्भिद्यते न घटः क्वचित् ।
नासंयतः प्रव्रजति भव्योऽसिद्धो न सिध्यति ।।३१।।

अत्रार्थेऽभियुक्तसंमतिमाह-**पलालमिति**-अत्र दहनादिक्रियाकाल एव तन्निष्ठाकाल इति दह्यमानादेर्दग्धत्वाद्यव्यभिचारात् तदवस्थाविलक्षण-पलालाद्यवस्थावच्छिन्नेन समं दहनादिक्रियान्वयस्यायोग्यत्वात्पलालं न दहत्यग्निरित्यादयो व्यवहारा निषेधमुखा उपपद्यन्ते । विधिमुखस्तु व्यवहारोऽत्रापलालं दह्यते, अघटो भिद्यते, संयतः प्रव्रजति, सिद्धः सिध्यतीत्येवमाकार एव द्रष्टव्यः । अत एव **"सो समणो पव्वईओ"** इत्यादि क्रियमाणं कृतमेव, कृतं तु क्रियमाणत्वे भजनीयमिति सिद्धान्तः संगच्छते । तदाह भाष्यकारः-

"तेणेह कज्जमाणं णियमेय कयं कयं तु भयणिज्जं ।
किंचिदिह कज्जमाणं उवरयकिरियं च होज्जाहि ।।१।। इति" ।।३१।।

दह्यमानेऽपि शाट्येकदेशे स्कन्धोपचारतः ।
शाटी दग्धेति वचनं ज्ञेयमेतन्नयाश्रयम् ।।३२।।

शाटी दग्धेति कथं तदानीं शाटीदाहक्रियाकालसंवलितस्य तन्निष्ठाकालस्याभावादिति ? उत्तरं - शाट्येकदेशे दह्यमानेऽपि तत्र स्कन्धोपचारतः शाटीस्कन्धवाचकशाटीपदोपचाराच्छाटी दग्धेति वचनमेतन्नयाश्रयमृजुसूत्राभिप्रायकं ज्ञेयम् ।।३२।।

विशेषिततरः शब्दः प्रत्युत्पन्नाश्रयो नयः ।
तरप्प्रत्ययनिर्देशाद्विशेषिततमेऽगतिः ।।३३।।

विशेषिततरः प्रत्युत्पन्नाश्रयः ऋजुसूत्राभिमतग्राही नयः शब्द इति । अत्र तरप्प्रत्ययात्तमप्प्रत्ययो विशेषस्तेन समभिरूढ एवंभूते चागतिरतिव्याप्तिर्न ।।३३।।

ऋजुसूत्राद्विशेषोऽस्य भावामात्राभिमानतः ।
सप्तभंग्यर्पणाल्लिंगभेदादेवार्थभेदतः ।।३४।।

अस्य शब्दनयस्य ऋजुसूत्राद्विशेष उत्कर्षः भावमात्रस्याभिमानात् जलाहरणदिक्रियाक्षमं प्रसिद्धं भावघटमेवेच्छति ।।३४।।

सामानाधिकरण्यं चेन्न विकारापरार्थयोः ।
भिन्नलिंगवचःसंख्यारूपशब्देषु तत्कथम् ।।३५।।

विकाराविकारार्थकशब्दयोः पलालं दाहः भिन्नलिंगादिरूपाणि येषु; तादृशेषु शब्देषु कथं सामानाधिकरण्यं ? न कथंचिदित्यर्थः ।।३५।।

नयः समभिरूढोऽसौ यः सत्स्वर्थेष्वसंक्रमः ।
शब्दभेदेऽर्थभेदस्य व्याप्त्यभ्युपगमश्च सः ।।३६।।

यः सत्स्वर्थेषु घटादिष्वसंक्रमो घटाद्यन्यशब्दवाच्यत्वं समभिरूढः ।।३६।।

तटस्तटं तटीत्यादौ शब्दभेदोऽर्थभिद्यदि ।
तद् घटः कुंभ इत्यादौ कथं नेत्यस्य मार्गणा ।।३७।।

संज्ञार्थतत्त्वं न ब्रूते त्वन्मते पारिभाषिकी ।
अनादिसिद्धः शब्दार्थो नेच्छा तत्र निबन्धनम् ।।३८।।

पारिभाषिकी संज्ञा डित्थडवित्थादिका ।।३८।।

एवंभूतस्तु सर्वत्र व्यञ्जनार्थविशेषणः ।
राजचिह्नैर्यथा राजा नान्यदा राजशब्दभाक् ।।३९।।

व्यञ्जनं शब्दस्तेनार्थं विशेषयति स एवंभूतः ।।३९।।

सिद्धो न तन्मते जीवः प्रोक्तः सत्त्वादिसंज्ञ्यपि ।
महाभाष्ये च तत्त्वार्थभाष्ये धात्वर्थबाधतः ।।४०।।

जीवति प्राणान् बिभर्तीति धात्वर्थः ।।४०।।

जीवोऽजीवश्च नोजीवो नोअजीव इतीहिते ।
जीवः पंचस्वपि गतिष्विष्टो भावैर्हि पंचभिः ।।४१।।

जीवः, अजीवः, नोजीवः, नोअजीवः, एषां लक्षणानि- औदयिकक्षायिक-क्षायोपशमिकौपशमिकपारिणामिकलक्षणैः पंचभिर्लक्षितो जीवः ।।४१।।

नञि सर्वनिषेधार्थे पर्युदासे च संश्रिते ।
पुद्गलप्रभृतिद्रव्यमजीव इति संज्ञितम् ।।४२।।

नञि सर्वत्र निषेधार्थेऽत्राजीवः पुद्गलादिकं द्रव्यम् ।।४२।।

नोजीव इति नोशब्दे जीवसर्वनिषेधके ।
देशप्रदेशौ जीवस्य तस्मिन् देशनिषेधके ।।४३।।

नोजीव इत्यत्र तु नोशब्दे देशनिषेधके जीवस्य देशप्रदेशौ अंगीकर्तव्यौ ।।४३।।

जीवो वा जीवदेशो वा प्रदेशो वाप्यजीवगः ।
अनयैव दिशा ज्ञेयो नोअजीवपदादपि ।।४४।।

नो अजीवो नोशब्दे देशनिषेधकेऽजीवदेशो वा अजीवः अजीवाश्रितः प्रदेशो वा इति । अत्र नञ् अभावार्थः नोशब्दस्य त्वभाव एकदेशो वा इत्यर्थः । पुनर्विपरीतोऽप्यर्थो नोजीवो नोशब्दे सर्वनिषेधके विवक्षितेऽजीव एव कथ्यते तृतीयभंगे एवं नोअजीवपदाज्जीवो जीवपदार्थो वा बोध्य इति चतुर्थभंगे । अयं भावार्थः-जीवः, अजीवः पुद्गलादिकं द्रव्यं, नोजीवोऽजीवो जीवस्य देशप्रदेशौ वा, नोअजीवो जीवो जीवदेश जीवप्रदेशो वा अजीवदेशो वा अजीवप्रदेशो वा इति ।।४४।।

नैगमो देशसंग्राही व्यवहारर्जुसूत्रकौ ।
शब्दः समभिरूढश्चेत्येवमेव प्रचक्षते ।।४५।।

उक्तं मतं कियन्तां नयानामाह देशसंग्राही ।।४५।।

भावमौदयिकं गृह्णन्नेवंभूतो भवस्थितम् ।
जीवं प्रवक्त्यजीवं तु सिद्धं वा पुद्गलादिकम् ।।४६।।

एवंभूतो भवस्थितं संसारिणं जीवं प्रवक्ति, सिद्धं पुद्गलादिकं चाजीवं प्रवक्ति ।।४६।।

नोअजीवश्च नोजीवो न जीवाजीवयोः पृथक् ।
देशप्रदेशौ नास्येष्टाविति विस्तृतमाकरे ।।४७।।

नोजीवो नोअजीवश्चैतन्नये एवंभूते जीवाजीवयोर्वक्तव्ययोः सतोर्न पार्थक्यमापद्यते, यतोऽस्य नयस्य देशप्रदेशौ नैष्टो इति नोशब्दः सर्वनिषेधार्थ एव घटत इत्येतदाकरेऽनुयोगद्वारादौ विस्तृतम् ।।४७।।

सिद्धो निश्चयतो जीव इत्युक्तं यद्दिगंबरैः ।
निराकृतं तदेतेन यन्नयेऽन्त्येऽन्यथा प्रथा ।।४८।।

इत्येतेन पूर्वोक्तेन सिद्धो निश्चयतो जीव इति यद्दिगंबरैरुक्तं तन्निराकृतं, यस्मादन्त्ये एवंभूतनयेऽन्यथा प्रथा सिद्धोऽजीव इत्येव प्रसिद्धिः, शुद्धनिश्चयश्च स एवेति ।।४८।।

आत्मत्वमेव जीवत्वमित्ययं सर्वसंग्रहः ।
जीवत्वप्रतिभूः सिद्धेः साधारण्यं निरस्य न ।।४९।।

आत्मत्वमेव जीवत्वं निश्चयान्न साधारण्यम् ।।४९।।

यज्जीवत्वं क्वचिद्द्रव्यभावप्राणान्वयात् स्मृतम् ।
विचित्रनैगमाकूतं तज्ज्ञेयं न तु निश्चयात् ।।५०।।

एवं निश्चयतः सिद्धस्याजीवत्वं प्रोक्तं तर्हि कथं-'**जीवा मुत्ता संसारिणो य**' इत्यादि ? तदुपर्याह-यज्जीवत्वं क्वचिद्ग्रन्थे द्रव्यप्राणानां भावप्राणानां चान्वयादेकीकरणात् स्मृतं संसारिसिद्धसाधारणमिति शेषः, तद्विचित्रो विविधावस्थो यो नैगमस्तस्याभिप्रायाज्ज्ञेयम् ।।५०।।

धात्वर्थे भावनिक्षेपात् परोक्तं न च युक्तिमत् ।
प्रसिद्धार्थोपरोधेन यन्नयान्तरमार्गणा ।।५१।।

धात्वर्थे जीवत्यर्थे भावप्राणारोपणात् परोक्तं निश्चयतः सिद्ध एव जीव इति दिगंबरोक्तं नैव युक्तिमत् ।।५१।।

शैलेश्यन्त्यक्षणे धर्मो यथा सिद्धस्तथाऽसुमान् ।
वाच्यं नेत्यपि यत्तत्र फले चिन्तेह धातुगा ।।५२।।

यथा शैलेशीचरमसमये निश्चयतो धर्मस्तस्मादर्वाग्व्यवहारतो धर्मः, तथाऽसुमान् जीवोऽपि निश्चयतः सिद्ध एव भविष्यति इत्यपि न वाच्यं । यतो धारयति सिद्धिगतावात्मानमिति धर्म इति फले फलरूपे धात्वर्थे चिन्ता ।।५२।।

उक्ता नयार्थास्तेषां ये शुद्ध्यशुद्धी वदेत् सुधीः ।
ते प्रदेशप्रस्थकयोर्वसतेश्च निदर्शनात् ।।५३।।

ये शुद्ध्यशुध्दी स्तः सुधीः पंडितस्ते शुद्ध्यशुद्धी वदेत् प्रदेशप्रस्थकवसति-दृष्टान्तैः ।।५३।।

तथाहि-

धर्माधर्माकाशजीवस्कन्धानां नैगमो नयः ।
तद्देशस्य प्रदेशश्चेत्याह षण्णां तमुच्चकैः ।।५४।।

नैगमो नयो धर्मास्तिकायादिस्कन्धानां तद्देशस्य प्रदेश इति षण्णां तं प्रदेशमुच्चकैः स्वमतनिर्बन्धेनाह ।।५४।।

दासेन मे खरः क्रीतो दासो मम खरोऽपि मे ।
इति स्वदेशस्वाभेदात् पंचानामाह संग्रहः ।।५५।।

संग्रहनयस्तु स्वदेशे धर्मास्तिकायादिदेशे स्वाभेदाद्धर्मास्तिकायाद्यभेदात् पंचानां प्रदेशमाह यथा संग्रहस्यान्वर्थत्वं क्रयजन्यदासनिष्ठं खरस्वामित्वम् ।।५५।।

व्यवहारस्तु पंचानां साधारण्यं न वित्तवत् ।
इति पंचविधो वाच्यः प्रदेश इति मन्यते ।।५६।।

व्यवहारनयस्तु इति मन्यते यथा पंचाना वित्ते द्रव्ये साधारणं स्वामित्वं तथा प्रदेशे न साधारणं पंचवृत्तित्वं पंचानां प्रदेश इति न वाच्यं, किं तु पंचविधः प्रदेश इति वाच्यम् ।।५६।।

पंचप्रकारः प्रत्येकं पंचविंशतिधा भवेत् ।
प्रत्येकवृत्तौ प्राक्पक्षः स्याद्देहेष्विव वाजिनाम् ।।५७।।

प्रत्येकवृत्तिः साकांक्षा बहुत्वेनेति सोऽप्यसन् ।
ऋजुसूत्रस्ततो ब्रूते प्रदेशभजनीयताम् ।।५८।।

पंचप्रकारः पंचविधः प्रदेशः, यदि च गेहेषु शतमश्वा इत्यत्रेव प्रत्येकवृत्तित्वान्वयः प्रकृते स्वीक्रियते तदा प्राक् पक्षः पंचाना प्रदेश इति संग्रहनयपक्ष एव परिष्कृतः ।।५८।।

भजनाया विकल्पत्वाद्व्यवस्थैवमपैति तत् ।
धर्मे धर्मः प्रदेशो वा धर्म इत्यादिनिर्णयः ।।५९।।

व्यवहारनयः प्राह-धर्मे धर्मास्तिकाये यः प्रदेशः स धर्मे धर्मास्तिकाय इति सप्तमीतत्पुरुषेण, धर्मास्तिकायश्चासौ प्रदेशो धर्मास्तिकाय इति कर्मधारयेण वा निर्णयः कर्तव्यः, एवमधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकायश्च ज्ञेयौ ।।५९।।

जीवे स्कन्धेऽप्यनन्ते नोशब्दाद्देशावधारणम् ।
इति शब्दनयः प्राह समासद्वयशुद्धिमान् ।।६०।।

अपिश्चार्थः, जीवे स्कन्धे च अनन्ते नोशब्दाद्देशावधारणं कर्तव्यं, जीवे जीव इति वा नोजीवः स्कन्ध इति वा प्रदेशो नोस्कन्ध इति ।।६०।।

ब्रूते समभिरूढस्तु भेदाप्तेरत्र सप्तमीम् ।
देशप्रदेशनिर्मुक्तमेवंभूतस्य वस्तु सत् ।।६१।।

समभिरूढनयस्तु धर्मे प्रदेश इत्यादि सप्तमीसमासं ब्रूते । अत्र कुंडे जलवद्भेदे सप्तमी, घटे घटस्वरूपं इत्यादौ क्वचिदभेदे सप्तमी । एवंभूतनयस्य मते देशप्रदेशनिर्मुक्तं देशप्रदेशकल्पनारहितमखंडमेव वस्तु सत्, देशप्रदेशकल्पना तु भ्रममात्रमिति तन्मते नास्त्येव प्रदेश इत्यर्थः ।।६१।।

प्रस्थकार्थं व्रजामीति वने गच्छन् ब्रवीति यत् ।
आदिमो ह्युपचारोऽसौ नैगमव्यवहारयोः ।।६२।।

अत्र प्रस्थकशब्देन क्रियाविष्टवनैकधीः ।
प्रस्थकेऽहं व्रजामीति ह्युपचारोऽपि च स्फुटः ।।६३।।

छिनद्मि प्रस्थकं तक्ष्णोम्युत्किराम्युल्लिखामि च ।
करोमि चेत्ति तदनूपचाराः शुद्धताभृतः ।।६४।।

तमेतावति शुद्धौ तूत्कीर्णनामानमाहतुः ।
चितं मितं तथा मेयारूढमेवाह संग्रहः ।।६५।।

एतावति शुद्धौ नैगमव्यवहारनयौ तं प्रस्थकं प्रस्थकपर्यायवन्तमाहतुः । संग्रहनयस्तु चितमासादितप्रस्थकपर्यायं मितमाकुहितनामानं मेयं धान्यविशेषमारूढं च प्रस्थकमाह ।।६५।।

प्रस्थकश्चर्जुसूत्रस्य मानं मेयमिति द्वयम् ।
न कर्तृगताद् भावाच्छाब्दानां सोऽतिरिच्यते ।।६६।।

ऋजुसूत्रस्य मानं मेयं चेति द्वयमेव तत्परिच्छेदासंभवान्मेयारूढप्रस्थकः प्रस्थकत्वेन व्यपदिश्यत इति । शब्दानां शब्दसमभिरूढैवंभूतानां त्रयाणां नयानां

मते स प्रस्थको ज्ञकर्तृगताद्भावान्नातिरिच्यते न भिद्यते, ज्ञः कर्ता च ज्ञकर्तारौ, ज्ञकर्त्रोर्गतो ज्ञकर्तृगतस्तस्मादिति समासः, प्रस्थकाकारज्ञगतात्प्रस्थककर्तृगताद्वा प्रस्थकोपयोगादतिरिक्तं प्रस्थकं न सहते इति प्रस्थकदृष्टान्तः ।। ६६ ।।

लोके च तिर्यग्लोके च जंबूद्वीपे च भारते ।
क्षेत्रे तद्दक्षिणार्द्धे च पाटलीपुत्रपत्तने ।।६७।।

अथ वसतिदृष्टान्तः-कुत्र भवान् वसतीति पृष्टे ।।६७।।

गृहे च वसतिः कोणे नैगमव्यवहारयोः ।
अतिशुद्धौ तु निवसन् वसतीत्याहतुः स्म तौ ।।६८।।

तदर्थस्तत्र तत्कालावच्छिन्ना तस्य वृत्तिता ।
वसत्यद्य न सोऽत्रेति व्यवहारौचिती ततः ।।६९।।

तदर्थो वसन् वसतीत्यस्यार्थः, तत्र पाटलीपुरे तस्य देवदत्तस्य वर्तमानकालावच्छिन्न-वृत्तितालक्षणयार्थः कर्तव्यः पाटलीपुरादेकस्मिन् दिनेऽन्यत्र गते देवदत्तेऽद्य सोऽत्र न वसतीति व्यवहारस्यौचित्यं ।।६९।।

यत्र तत्र गतस्यापि तद्वासित्वं निगद्यते ।
तद्वासवृत्तिभागित्वे ज्ञेयं तत्त्वौपचारिकम् ।।७०।।

संग्रहो वसतिं ब्रूते जन्तोः संस्तारकोपरि ।
ऋजुसूत्रः प्रदेशेषु स्वावगाहनुकृत्सु खे ।।७१।।

तेष्वप्यभीष्टसमये न पुनः समयान्तरे ।
चलोपकरणत्वेनान्यान्यक्षेत्रावगाहनात् ।।७२।।

तेषु स्वावगाहकाकाशप्रदेशेष्वपि अभीष्टसमये विवक्षितवर्तमानकाले वसतिर्न पुनर्भिन्नकाले, वीर्यसंयोगवद्द्रव्यकरणचापल्येन प्रतिसमयमन्यान्यक्षेत्रस्यापरापराकाशप्रदेशानामवगाहनादिति ।।७२।।

स्वस्मिन् स्ववसतिं प्राहुस्त्रयः शब्दनयाः पुनः ।
एषानुयोगद्वारेषु दृष्टान्तमययोजना ।।७३।।

त्रयः शब्दनयाः शब्दसमभिरूढैवंभूताख्याः स्वप्रदेशेष्वेव वसतिं प्राहुः, स्वस्य मुख्याया वसतेः संभवात्, आकाशप्रदेशानामपि परद्रव्यत्वेन स्वसंबन्धस्याघटनात् ।।७३।।

शुद्धा ह्येतेषु सूक्ष्मार्था अशुद्धा स्थूलगोचराः ।
फलतः शुद्धतां त्वाहुर्व्यवहारे न निश्चये ।।७४।।

एतेषु नयेषु ये यतः सूक्ष्मार्थास्ते ततः शुद्धाः, ये च यतः स्थूलगोचरास्ते ततोऽशुद्धाः, शुद्धाः स्वरूपतः शुद्धतां प्राहुर्व्यवहारनये न तु निश्चये ।।७४।।

क्रियाक्रियाफलौचित्यं गुरुः शिष्यश्च यत्र न ।
देशनानिश्चयस्यास्य पुंसां मिथ्यात्वकारणम् ।।७५।।

तथाहि-क्रियाक्रियाफलयोरौचित्यमित्यादि यत्र निश्चयनयेन हि, यतः दूहो-

"नहि निश्चयइ शिष्य गुरु, क्रियाक्रियाफलयोग ।
दाता नहि भोक्ता नहि, निष्फल सवइं संयोग ।।१।।"।।७५।।[1]

परिणामे नयाः सूक्ष्मा हिता नापरिणामके ।
न वातिपरिणामे च चक्रिणो भोजनं यथा ।।७६।।

परिणामे ऐदंपर्यार्थश्रद्धायां सूक्ष्मार्था नया हिताः, पुनरपरिणामके उत्सर्गैकरुचौ पुरुषे न हिताः तथातिपरिणामकेऽपवादैकरूचौ पुरुषे न हिताः ।।७६।।

आमे घटे यथा न्यस्तं जलं स्वघटनाशकृत् ।
तथाऽपरिणते शिष्ये रहस्यं नयगोचरम् ।।७७।।

पृथक्त्वे नाधिकारस्तन्नयानां कालिकश्रुते ।
अधिकारस्त्रिभिः प्रायो नयैर्व्युत्पत्तिमिच्छताम् ।।७८।।

तत्तस्मात्कारणान्निश्चयनयः स्तोकानामुपकारकत्वाद्बहूनां चापकारकत्वाच्चक्रि-भोजनवत् सूक्ष्मनयानां च बहूनामुपकारकत्वात्कालिकश्रुते पृथक्त्वेऽनुयोगचतुष्टय-पृथक्करणे सति नयानां सर्वेषां नयानामधिकारो नास्ति योजनायां इति शेषः, किं तु त्रिभिर्नैगमसंग्रह-व्यवहारैर्नयैर्व्युत्पत्तिमिच्छतां शिष्याणां हितमिति शेषः प्रायोऽधिकार इति ।।७८।।

---

१. भुङ्क्तेऽन्यः कुरुते चान्यो गुरुः शिष्यश्च यत्र न । देशना निश्चयस्यास्य पुंसां मिथ्यात्वकारणम् ।।७६।। इत्यधिकः श्लोकः स्वोपज्ञवृत्तियुते नयोपदेशे ।

तेनादौ निश्चयोद्ग्राहो नग्नानामपहस्तितः ।
रसायनीकृतविषप्रायोऽसौ न जगद्धितः ।।७९।।

तेन सूत्रोक्तरीतिलंघनेनादौ निश्चयनयोपन्यासो दिगंबराणामपहस्तितो निराकृतः, असौ निश्चयो न जगद्धितः, यथा रसायनीकृतं विषं सर्वेषां न हि हिताय ।।७९।।

उन्मार्गकारणं पापं परस्थाने हि देशना ।
बालादेर्नान्ययोग्यं च वचो भेषजवद्धितम् ।।८०।।

परस्थाने स्वाधिकारिभिन्नाधिकारिणि निमित्ते हि निश्चितं देशनोन्मार्गकारणमिति हेतोः पाप इति । न च बालादेर्मध्येऽन्ययोग्यं वचोऽन्यस्य भेषजवद्धितम् ।।८०।।

ये सीदन्ति क्रियाभ्यासे ज्ञानमात्राभिमानिनः ।
निश्चयानिश्चयं नैते जानन्तीति श्रुते स्मृतम् ।।८१।।

इष्टः शब्दनयैर्भावो निक्षेपा निखिलाः परैः ।
मतं मंगलवादेऽन्यद्भिदां द्रव्यार्थिके त्रये ।।८२।।

अथ निक्षेपाधिकारः शब्दनयैर्भावनिक्षेप इष्टः पर्यायार्थिके भावनिक्षेप एव परैः, द्रव्यार्थिकेन निखिलाश्चत्वारोऽपि निक्षेपास्तत्कथं संगच्छते मंगलवादे यदुक्तं भाष्यकृता द्रव्यार्थिके भिदां त्रये नामस्थापनाद्रव्यलक्षणे मंगलवादेऽभिहितेऽन्यन्मतं पुरस्कृतमिति शेषः तत्त्वार्थवृत्तावपि ।।८२।।

द्रव्यार्थे गुणवाञ्जीवः पर्यायार्थे च तद्गुणः ।
सामायिकमिति प्रोक्तं यद्दिशावश्यकादिषु ।।८३।।

आवश्यकादिषु ग्रन्थेषु द्रव्यार्थिकनये गुणवान् जीवः सामायिकं, पर्यायार्थिकनये च जीवस्य गुणः सामायिकमिति प्रोक्तं, तन्मतमेतदित्यर्थः ।।८३।।

घटोपयोगरूपो वा भावो द्रव्यार्थिकेऽमतः ।
तेन तत्र त्रयं प्रोक्तमिति जानीमहे वयम् ।।८४।।

इति मतान्तरमग्रेतनवचनेन सहाविरोधं समर्थयन्नाह **घटेति** । वेति पक्षान्तरे घटोपयोगरूपो भावो द्रव्यार्थिकेऽमतोऽनिष्टस्तेन तत्र मंगलवादे द्रव्यार्थिके त्रयं नामादिनिक्षेपत्रयं प्रोक्तं, न तु सर्वथा भावानभ्युपगमाभिप्रायेण जलाहरणादि-

परिणतिरूपभावघटस्य द्रव्यार्थिकेनाभ्युपगमादिति वयं जानीमहे । तथा च भाष्ये पूर्वं शुद्धचरणरूपभावमंगलाधिकारप्रवृत्तेर्नैगमादिना जलाहरणादि-रूपभावघटाभ्युपगमेऽपि घटोपयोगरूपभावघटानभ्युपगमात्तन्निषेधोक्तिः, अग्रे तु व्यवस्थाधिकारद्विशेषोक्तिरिति न विरोधः ।।८४।।

तत्र नामघटः प्रोक्तो घटनाम्ना पटादिकः ।
तच्चित्रं स्थापनाद्रव्यं मृद्भावो रक्तिमादिकः ।।८५।।

ऊक्तं निक्षेपचतुष्टयं तत्र निक्षेपचतुष्टयमध्ये घटनाम्ना क्लृप्तः पटादिकोऽपि नामघट उच्यते, शेषं स्पष्टम् ।।८५।।

एकद्रव्येऽप्यात्मनामाकृतिकारणकार्यताः ।
पुरस्कृत्य महाभाष्ये दिष्टा पक्षान्तरेण ते ।।८६।।

एकस्मिन्नपि द्रव्ये आत्मनो विवक्षितपदार्थस्य नामाभिधायकं पदं नाम, आकृतिः संस्थानं, कारणता तत्पर्यायजननशक्तिर्द्रव्यं, कार्यता तद्रूपेणाभिव्यक्तिर्भावः, एताः पुरस्कृत्य मेलयित्वा भिन्नपक्षाभिप्रायेण ते नामादयश्चत्वारोऽपि निक्षेपा महाभाष्ये दिष्टाः प्रतिपादिताः ।।८६।।

अप्रज्ञाप्याभिधाद्रव्यजीवद्रव्याद्ययोगतः ।
न चाव्यापित्वमेतेषां तत्तद्भेदनिवेशतः ।।८७।।

एतेषां नामादीनां निक्षेपाणामप्रज्ञाप्ये वस्तुनि अभिधाया नाम्नोऽप्रयोगाज्जीव-द्रव्ययोश्च जीवत्वेन द्रव्यत्वेन भूतभविष्यत्पर्यायाभावेन तत्कारणत्वाभावाद् द्रव्यनिक्षेपस्यायोगात्, न चाव्याप्तिः ।।८७।।

इतीयं प्रायिकी व्याप्तिरभियुक्तैर्निरूप्यते ।
यत्तत्पदाभ्यां व्याप्तिश्चानुयोगद्वारनिश्चिता ।।८८।।

कुतः प्रायिकी अभियुक्तैः पंडितैर्निरूप्यते, व्याप्तिश्च यत्तत्पदाभ्यामनुयोगद्वार-सूत्रादेव निश्चिता

"जत्थ य जं जाणिज्जा णिक्खेवं णिक्खिवे णिरवसेसं ।

जत्थवि य न जाणिज्जा चउक्कयं णिक्खिवे तत्थ ।।१।। इति तत्पाठादिति श्लोकद्वयं यद्येकस्मिन्न संभवति नैतावति भवत्यव्याप्तिता ।।८८।।

आदिष्टजीवद्रव्याभ्यां द्रव्यन्यासस्य संभवम् ।
अप्रज्ञाप्ये जिनप्रज्ञानाम्नश्च ब्रुवते परे ।।८९।।

परे आचार्या अप्रज्ञाप्ये वस्तुनि जिनप्रज्ञारूपनामनिक्षेपस्य संभवं ब्रुवंते, तत्र केवलिप्रज्ञैव नामतयैव तत्कार्यकरणात् आदिष्टद्रव्यत्वानां घंटादिपर्यायाणां हेतुत्वाद् द्रव्यं ।।८९।।

तच्चिन्त्यमुपयोगो यन्नाम द्रव्यार्थिकस्य न ।
नरादेर्द्रव्यजीवत्वे सिद्धे स्याद् भावजीवता ।।९०।।

यद्यस्माद् द्रव्यार्थिकस्य नयस्य मत उपयोगो नाम न भवति ।।९०।।

आदिष्टद्रव्यहेतुत्वाद् द्रव्यद्रव्यप्रतिश्रुतौ ।
भावद्रव्यं न किंचित् स्याद् गुणेऽपि द्रव्यतार्पणात् ।।९१।।

आदिष्टद्रव्यहेतुत्वाद्धेतोर्द्रव्यद्रव्यस्य प्रतिश्रुतौ स्वीकारे च भावद्रव्यं किमपि न स्यात् ।।९१।।

अन्ये तु द्रव्यजीवो धीसंन्यस्तगुणपर्ययः ।
तदसन्न धिया तेषां संन्यासः स्यात्सतां यतः ।।९२।।

अन्ये त्वाचार्या धिया बुद्ध्या संन्यस्ता गुणपर्याया यस्य स तथा गुणपर्यायवियुक्तः प्रज्ञास्थापितः तदसत्, यतः सतां तेषां गुणपर्यायाणां धिया संन्यासो न स्यात् तदेव प्रायिकव्याप्त्या नामादिचतुष्टयं सर्वत्रेच्छन्ति सर्वेऽपि द्रव्यार्थिकनया इति व्यवस्थापितम् ।।९२।।

संग्रहे स्थापना नेष्टा तस्या नाम्नैव संग्रहात् ।
किं नेन्द्रचित्रं नामेन्द्र इन्द्रनामकपिंडवत् ।।९३।।

संग्रहनये स्थापना नेष्टा, स्थापनाया नामनिक्षेपेणैव संग्रहात्, इन्द्रप्रतिमा इन्द्रनामकपिंडवत् किं नामेन्द्रो न भवति ? अपि तु भवत्येव ।।९३।।

नामातिरिक्तो नामेन्द्रो लक्ष्य इन्द्रपदस्य हि ।
तस्य मुख्यार्थसादृश्यैर्वैसादृश्ये च नाग्रहः ।।९४।।

वैसदृश्ये सादृश्ये वा निमित्ते नाग्रहः कर्तव्यः ।।९४।।

इदं कैश्चिन्मतं तच्च भाष्ये दूषितमुच्चकैः ।
नाम्नैव द्रव्यनिक्षेपेऽप्येवं संग्रहसंभवात् ।।९५।।

इदं मतं भाष्ये दूषितम् ।।९५।।

परिणामितया द्रव्यं वाचकत्वेन नाम च ।
भावस्थमिति भेदश्चेन्नाम्नेन्द्रे दुर्वचं ह्यदः ।।९६।।

परिणामितया द्रव्यं भावे संबध्दं, नाम च वाचकत्वेन वाच्यवाचकभावेन संबध्दं चेत्, अदो नियामकं नामेन्द्रगोपालदारके दुर्वचम् ।।९६।।

परिणामित्वभिन्नश्चेन्नामनिक्षेपलक्षकः ।
संबन्ध इष्टः साम्यादिभिन्नः किं न तथेष्यते ।।९७।।

नामनिक्षेपलक्षणः परिणामित्वभिन्न एव द्रष्टव्यस्तदा स्थापनाया अपि साम्यादिभिन्नः संबन्धः ।।९७।।

अतिप्रसंगो नैवं चाभिप्रायाकारयोगतः ।
यच्छ्रुतोक्तमनुलंघ्य स्थापना नाम चान्यतः ।।९८।।

एवमुक्तासंकरप्रकारेण चातिप्रसंगो न भवति, यच्छ्रुतोक्तं सिद्धान्तवचन-मनुलंघ्याक्षादौ एवाभिप्रायसंबन्धं प्रतिमादौ चाकारसंबन्धं पुरस्कृत्य स्थापनाद्रियतेऽन्यतोऽन्यस्थले च नामनिक्षेप इति ।।९८।।

अत एव न धीरर्हत्प्रतिमायामिवार्हतः ।
भावसाधोः स्थापना या द्रव्यलिंगिनि कीर्तिता ।।९९।।

अत एवार्हत्प्रतिमायामर्हतो धीरिव द्रव्यलिंगिनि प्रकटप्रतिषेविणि पार्श्वस्थादौ स्थापना भावसाधोर्धीः सिद्धान्ते न कीर्तिता ।।९९।।

सा हि स्थाप्या स्मृतिद्वारा भावादरविधायिनी ।
न चोत्कटतरे दोषे स्थाप्यस्थापकभावना ।।१००।।

सा स्थापनाधीः ।।१००।।

यद्वा प्रतिष्ठाविधिना स्वात्मन्येव परात्मनः ।
स्थापना स्यात् समापत्तिर्बिंबे सा चोपचारतः ।।१०१।।

यद्वा पक्षान्तरे प्रतिष्ठाविधिना प्रतिष्ठाकारयितुः स्वात्मन्येव परात्मनः परमत्रिभुवनभर्तुर्ध्यानरूपा समापत्तिरेव स्थापना स्यात्, निश्चयतः सा प्रतिष्ठा, बिंबे चोपचारतः ।।१०१।।

प्रतिष्ठितप्रत्यभिज्ञासमापन्नपरात्मनः ।
आहार्यारोपतः स्याच्च द्रष्टॄणामपि धर्मभूः ।।१०२।।

स्थापना प्रतिष्ठितप्रतिज्ञया समापन्नो यः परमात्मा भगवांस्तस्याहार्यारोपतो द्रष्टॄणामुपलक्षणाद्वन्दकानां पूजकानां धर्मभूर्धर्मकारणं भवति ।।१०२।।

तत्कारणेच्छाजनकज्ञानगोचरबोधकाः ।
विधयोऽप्युपयुज्यन्ते तेनेदं दुर्मतं हतम् ।।१०३।।

तस्याहार्यारोपस्य कारणं या इच्छा तज्जनकं यत्प्रतिष्ठितप्रतिमाभगवदभेदेनाध्यारोपयेदिति विधिजनितं ज्ञानं तद्गोचरीभूताः प्रतिष्ठाया बोधका इष्टसाधनत्वबोधनादिद्वारा तदुत्पतिहेतव इति यावत्, विधयो विधिवाक्यान्यप्युपयुज्यन्तें फलवन्तो भवन्ति, तेनेदं वक्ष्यमाणं दुर्मतमाध्यात्मिकाभासानां हतं निराकृतम् ।।१०३।।

प्रतिष्ठाद्यनपेक्षायां शाश्वतप्रतिमार्चने ।
अशाश्वतार्चापूजायां को विधिः किं निषेधनम् ।।१०४।।

किं तदित्याह-शाश्वत इति स्पष्टं, प्रतिष्ठितप्रतिमां पूजयेदिति विधिरप्रतिष्ठितां न पूजयेदिति निषेधनं च, किं ? विधिनेषेधार्थान्वयस्यायोग्यत्वादिति ।।१०४।।

पूजादिविधयो ज्ञानविध्यंगित्वं यदाश्रिताः ।
शाश्वाताशाश्वतार्चासु विभेदेन व्यवस्थिताः ।।१०५।।

कथं निरस्तं ? तदाह **पूजेति** । पूजादिविधयः प्रतिष्ठितां प्रतिमां पूजयेदित्यादिवाक्यलक्षणा ज्ञानविधेः प्रतिष्ठितां प्रतिमां भगवद्भिन्नत्वेनाध्यारोपयेदित्यंगवाक्यात्मकस्यांगित्वं प्रधानत्वमाश्रिताः शाश्वताशाश्वतार्चासु विभेदेन भिन्नरूपेण व्यवस्थिता विधिविषयनिर्वाहत्वं अशाश्वतप्रतिमास्थले, अन्यत्र त्वनादिप्रतिष्ठितत्वप्रत्यभिज्ञाया एव तथात्वं, तादृशशिष्टाचारेण तथैव विधिबोधनादिति ।।१०५।।

एतेन व्यवहारेऽपि स्थापनानाग्रहो हतः ।
तत्रार्धजरतीयं किं नाम्नापि व्यवहर्तरि ।।१०६।।

एतेन युक्तिकदबंकेन संग्रहे स्थापनाव्यवस्थापनेन व्यवहारेऽपि स्थापनाया अनाग्रहोऽस्वीकारो हतो निरस्तः केषांचिदाचार्याणां, यतस्तत्र व्यवहारे नाम्नापि नामनिक्षेपेणापि व्यवहर्तरि व्यवहारमभ्युपगच्छति, किमिदमर्धजरतीयं यदुपनया (यदुपमया) न व्यवहार इति, न हीन्द्रप्रतिमायां नेन्द्रव्यवहारो भवति ।।१०६।।

ऋजुसूत्रेऽपि ये द्रव्यनिक्षेपं प्रवदन्ति न ।
व्याख्येया तैः कथं तत्र द्रव्यावश्यकसूत्रगीः ।।१०७।।

ऋजुसूत्रेऽपि ये द्रव्यनिक्षेपं न स्वीकुर्वते तान् दूषयति अनुपयोगो द्रव्यमिति, तत्र तैर्द्रव्यावश्यकगीः कथं व्याख्येया ?।।१०७।।

तस्माद्यथोक्तनिक्षेपविभागो भाष्यसंमतः ।
इतीयं मुहुरालोच्या निक्षेपनययोजना ।।१०८।।

जातं द्रव्यास्तिकाच्छुद्धाद् दर्शनं ब्रह्मवादिनाम् ।
तत्रैके शब्दसन्मात्रं चित्सन्मात्रं परे जगुः ।।१०९।।

एके ब्रह्मवादिनः शब्दसन्मात्रमिच्छन्ति अन्ये चित्सन्मात्रमिच्छन्ति ।।१०९।।

अशुद्धाद् व्यवहाराख्यात्ततोऽभूत् सांख्यदर्शनम् ।
चेतनाचेतनद्रव्यानन्तपर्यायदर्शकम् ।।११०।।

व्यवहाराख्यादशुद्धात् ततो द्रव्यार्थिकनयात् सांख्यदर्शनमभूत्, कीदृशं तत् ? चेतनश्चाचेतनद्रव्यं चानन्तपर्यायाश्चाविर्भावतिरोभावात्मकास्तेषां दर्शकं प्रतिपादकमिति ।।११०।।

यद्यप्येतन्मतेऽप्यात्मा निर्लेपो निर्गुणो विभुः ।
अध्यासाद् व्यवहारश्च ब्रह्मवादेऽपि संमतः ।।१११।।

एतन्मते सांख्यमते आत्मा कर्तृत्वादिलेपरहितो गुणस्पर्शशून्यः ।।१११।।

प्रत्युतात्मनि कर्तृत्वं सांख्यानां प्रातिभासिकम् ।
वेदान्तिनां त्वनिर्वाच्यं मतं तद् व्यावहारिकम् ।।११२।।

अनुत्पन्नत्वपक्षश्च निर्युक्तौ नैगमे श्रुतः ।
नेति वेदान्तिसांख्योक्त्योः संग्रहव्यवहारता ।।११३।।

तथाप्युपनिषद्दृष्टिः सृष्टिवादात्मिका परा ।
तस्यां स्वप्नोपमे विश्वे व्यवहारलवोऽपि न ।।११४।।

तथाप्युपनिषद्वेदान्तदर्शनप्रवृत्तिः ।। ११४ ।।

सांख्यशास्त्रे च तन्त्रात्मव्यवस्थां व्यवहारकृत् ।
इत्येतावत्पुरस्कृत्य विवेकः संमतावयम् ।।११५।।

तात्पर्यविषयीकृत्य अयम् ।।११५।।

हेतुर्मतस्य कस्यापि शुद्धोऽशुद्धो न नैगमः ।
अन्तर्भावो यतस्तस्य संग्रहव्यवहारयोः ।।११६।।

द्वाभ्यां नयाभ्यामुन्नीतमपि शास्त्रं कणाशिना ।
अन्योऽन्यनिरपेक्षत्वान्मिथ्यात्वं स्वमताग्रहात् ।।११७।।

द्वाभ्यां सामान्यविशेषग्राहिभ्यां संग्रहव्यवहाराभ्यां नयाभ्याम् ।।११७।।

स्वतंत्रव्यक्तिसामान्यग्रहा येऽत्र तु नैगमे ।
औलूक्यसमयोत्पत्तिं ब्रूमहे तत एव हि ।।११८।।

ऋजुसूत्रादितः सौत्रान्तिकवैभाषिकौ क्रमात् ।
अभूवन् सौगता योगाचारमाध्यमिकाविति ।।११९।।

ऋजुसूत्रादित ऋजुसूत्रतः सौत्रान्तिकः, शब्दतो वैभाषिकः, समभिरूढतो योगाचारः, एवंभूततो माध्यमिक, इति चत्वारः सौगता अभूवन् । अत्र काव्यम् ।

"अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणेक्ष्यते,

प्रत्यक्षो न हि बाह्यवस्तुवसरः सौत्रान्तिकैराश्रितः ।

योगाचारमतानुगैरभिमता साकारबुद्धिः परा,

मन्यन्ते बत मध्यमाः कृतधियः स्वस्थां परां संविदम् ।।१।। इति" ।।११९।।

नयसंयोगजः शब्दालंकारादिश्च विस्तरः ।
कियान् वाच्यो वचस्तुल्यसंख्या ह्यभिहिता नयाः ।।१२०।।

स्याद्वादनिरपेक्षैश्च तैस्तावन्तः परागमाः ।
ज्ञेयोपयुज्य तदियं दर्शने नययोजना ।।१२१।।

नयैः स्याद्वादनिरपेक्षैः स्याद्वादैकवाक्यतारहितैस्तावन्तो वचस्तुल्यसंख्या एव परागमाः परसिद्धान्ता भवन्ति । अभिनिवेशान्वितनयत्वस्यैव परसमयलक्षणत्वादिति । तदिदमुक्तं संमतौ (जावइया इत्यादि) इयं दर्शने नययोजना ज्ञेया ।।१२१।।

नास्ति नित्यो न नो कर्ता न भोक्तात्मा न निर्वृतिः ।
तदुपायश्च नेत्याहुर्मिथ्यात्वस्थानकानि षट् ।।१२२।।

नास्त्यात्मेति चार्वाकमते, न नित्य आत्मेति क्षणिकवादिमते, न कर्ता न भोक्तात्मेति सांख्यमते, यद्वा न कर्तेति सांख्यमते न भोक्तेति वेदान्तिमते, नास्ति निर्वृतिः सर्वदुःखविमोक्षलक्षणा नास्तिकप्रायाणां यज्वनां मते, अस्ति मुक्तिः परं तदुपायो नास्ति सर्वभावानां नियतत्वेनाकस्मादेव भावादिति नियतिवादिमते, इत्येतान्यपि षड् मिथ्यात्वस्थानकान्याहुः पूर्वसूरयः ।।१२२।।

षडेतद्विपरीतानि सम्यक्त्वस्थानकान्यपि ।
मार्गत्यागप्रवेशाभ्यां फलतस्तत्त्वमिष्यते ।।१२३।।

एतेभ्यः प्रागुक्तेभ्यो विपरीतानि षट् सम्यक्त्वस्थानकानि भवन्ति । गाथा-

"अत्थि जिओ णिच्चो कत्ता भुत्ता सपुन्नपावाणं ।
अत्थि धुवं निव्वाणं तस्सोवाओ अ छठ्ठाणा ।।१।। इति"

को विशेष इत्यत आह-नास्तित्ववादे गुरुशिष्यक्रियाक्रियाफलादिव्यवहार-लोपान्मार्गत्यागः, अस्तित्ववादे चोक्तव्यवहारप्रामाण्यविश्वासे तत्प्रवेशः, इत्येताभ्यां हेतुभ्यां फलतस्तत्त्वं सम्यक्त्वमिथ्यास्थानकत्वमिष्यते ।।१२३।।

स्वरूपतस्तु सर्वेऽपि स्युर्मिथोऽनिश्रिता नयाः ।
मिथ्यात्वमिति को भेदो नास्तित्वास्तित्वनिर्मितः ।।१२४।।

मिथोऽनिश्रिता इति स्याद्वादमुद्रया परस्पराकांक्षारहिता इति तेषां भेदो भविष्यतीत्यत आह ।।१२४।।

धर्म्यंशे नास्तिको ह्येको बार्हस्पत्यः प्रकीर्तितः ।
धर्मांशे नास्तिका ज्ञेयाः सर्वेऽपि परतीर्थिकाः ।।१२५।।

धर्मिण आत्मनोंऽशे नास्तित्वभागे एकश्चार्वाको नास्तिकः प्रोक्तः, धर्माणामात्मनः शरीरप्रमाणत्वनानात्वादीनामंशे नास्तित्वपक्षे सर्वेऽपि नैयायिक-वैशेषिकवेदान्तिसांख्यपातंजलजैमिनीयादयः परतीर्थिका नास्तिका ज्ञेयाः ।।१२५।।

इत्थमेव क्रियावादे सम्यक्त्वोक्तिर्न दुष्यति ।
मिथ्यात्वोक्तिस्तथाज्ञानाक्रियाविनयवादिषु ।।१२६।।

क्रियायां पक्षपातो हि पुंसां मार्गाभिमुख्यकृत् ।
अन्त्यपुद्गलभावित्वादन्येभ्यस्तस्य मुख्यता ।।१२७।।

क्रियायां पक्षपातो मोक्षेच्छया आवेशो हि पुंसां मार्गानुसारिता । तदुक्तं दशाचूर्णौ-

"जो अकिरियावाई सो भविओ अभविओ वा कण्हपक्खिओ सुक्कपक्खिओ वा, जो किरियावाई सो णियमा भविओ णियमा सुक्कपक्खिओ अंतो पुग्गलपरियट्टस्स सिज्झइ इत्यादि ।

असिइसयं किरियाणं अकिरियवाईण होइ चुलसीई ।

अन्नाणिय सत्तठ्ठी वेणईयाणं तु बत्तीसा ।।१।।" इति गाथा । अत्र च क्रियावाद्यादीनां त्रिषष्ट्यधिकशतत्रयभेदा इति ।।१२७।।

क्रियानयः क्रियां ब्रूते ज्ञानं ज्ञाननयः पुनः ।
मोक्षस्य कारणं तत्र भूयस्यो युक्तयोर्द्वयोः ।।१२८।।

विज्ञप्तिः फलदा पुंसां न क्रिया फलदा मता ।
मिथ्याज्ञानात्प्रवृत्तस्य फलासंवाददर्शनात् ।।१२९।।

क्रियैव फलदा पुंसां न ज्ञानं फलदं मतम् ।
यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो न ज्ञानात्सुखितो भवेत् ।।१३०।।

ज्ञानमेव शिवस्याध्वा मिथ्यासंस्कारनाशनात् ।
क्रियामात्रं त्वभव्यानामपि नो दुर्लभं भवेत् ।।१३१।।

तंडुलस्य यथा वर्म यथा ताम्रस्य कालिका ।
नश्यति क्रिययामुत्र पुरुषस्य तथा मलः ।।१३२।।

बठरश्च तपस्वी च शूरश्चाप्यकृतव्रणः ।
मद्यपा स्त्री सती चेति राजन्न श्रद्दधाम्यहम् ।।१३३।।

ज्ञानवान् शीलहीनश्च त्यागवान् धनसंग्रही ।
गुणवान् भाग्यहीनश्च राजन्न श्रद्दधाम्यहम् ।।१३४।।

इति युक्तिवशात्प्राहुरुभयोस्तुल्यकक्षताम् ।
मंत्रेऽप्याह्वानं देवादेः क्रियायुग्ज्ञानमिष्टकृत् ।।१३५।।

ज्ञानं तुर्ये गुणस्थाने क्षायोपशमिकं भवेत् ।
अपेक्षते फले षष्ठगुणस्थानजसंयमम् ।।१३६।।

प्रायः संभवतः सर्वगतिषु ज्ञानदर्शने ।
तत्प्रमादो न कर्तव्यो ज्ञाने चारित्रवर्जिते ।।१३७।।

क्षायिकं केवलज्ञानमपि मुक्तिं ददाति न ।
तावान्नाविर्भवेद्यावच्छैलेश्यां शुद्धसंयमः ।।१३८।।

व्यवहारे तपोज्ञानसंयमा मुक्तिहेतवः ।
एकः शब्दर्जुसूत्रेषु संयमो मोक्षकारणम् ।।१३९।।

संग्रहस्तु नयः प्राह जीवो मुक्तः सदा शिवः ।
अनवाप्तिभ्रमात्कंठस्वर्णन्यायात् क्रिया पुनः ।।१४०।।

अनन्तमर्जितं ज्ञानं त्यक्ताश्चानन्तविभ्रमाः ।
न चित्रं कल्याप्यात्मा हीनोऽभूदधिकोऽपि वा ।।१४१।।

धावन्तोऽपि नयाः सर्वो स्युर्भावे कृतविश्रमाः ।
चारित्रगुणलीनः स्यादिति सर्वनयाश्रितः ।।१४२।।

सुनिपुणमतिगम्यं मन्दधीदुःप्रवेशं प्रवचनवचनं न क्वापि हीनं नयौघैः
गुरुचरणकृपातो योजयंस्तान् पदे यः परिणमयति शिष्यांस्तं वृणीते यश :श्रीः ।।१४३।।

गच्छे श्री विजयादिदेवसुगुरोः स्वच्छे गुणानां गणैः
प्रौढिं प्रौढिमधाम्नि जीतविजयप्राज्ञाः परामैयरूः ।
तत्सातीर्थ्यभृतां नयादिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशु
स्तत्त्वं किंचिदिदं यशोविजय इत्याख्याभृदांख्यातवान् ।।१४४।।

।। इति नयोपदेशः ।।

।। नयपरिच्छेदः ।।

।। प्रमाणनयतत्त्वालोकः ।।

। श्रीवादीदेवसूरिजी ।

।। प्रमाणनयतत्त्वालोकः ।।

।। नयपरिच्छेदः ।।

प्रमाणतत्त्वं व्यवस्थाप्य नयतत्त्वं व्यवस्थापयन्ति-

नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशस्तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः ।।१।।

नीयत इति । अत्रैकवचनमतन्त्रं तेनांशावंशा वा येन परामर्शविशेषेण श्रुतप्रमाणप्रतिपन्नवस्तुनो विषयीक्रियन्ते तदितरांशौदासीन्यापेक्षया स नयः । तदितरांशप्रतिक्षेपे तु तदाभासता भणिष्यते । वस्त्वंशे प्रवर्तमानो नयः स्वार्थैकदेशव्यवसायलक्षणो न प्रमाणं नापि मिथ्याज्ञानमिति ।।१।।

नयसामान्यलक्षणमुक्त्वा नयाभासस्य तदाहुः-

स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापी पुनर्नयाभासः ।।२।।

स्वाभिप्रेतेति । नयाभासो दुर्नय इत्यर्थः, यथा तीर्थिकानां नित्याद्येकान्तप्रदर्शकं सकलं वाक्यम् ।।२।।

स व्याससमासाभ्यां द्विप्रकारः ।।३।।

स प्रकृतो नयः, व्यासो विस्तरः, समासः सङ्क्षेपः । ताभ्यां द्विप्रकारो व्यासनयः समासनयश्चेति ।।३।।

व्यासतोऽनेकविकल्पः ।।४।।

एकांशगोचरस्य हि प्रतिपत्त्रभिप्रायविशेषस्य नयस्वरूपत्वमुक्तम् । ततश्चानंतांशात्मके वस्तुन्येकैकांशपर्यवसायिनो यावन्तः प्रतिपत्तॄणामभिप्रायाः तावन्तो नया इति व्यासतो नयस्यानेकप्रकारत्वमुक्तम् ।।४।।

समासतस्तु द्विभेदो द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च ।।५।।

द्रव्यमेवार्थो यस्य विषयत्वेन स द्रव्यार्थिकः, एवं पर्यायार्थिकश्च । एतावेव च द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकाविति द्रव्यस्थितपर्यायस्थिताविति द्रव्यार्थपर्यायार्थाविति च प्रोच्येते । गुणस्य पर्याय एवान्तर्भूतत्वेन पर्यायार्थिकेनैव तत्सङ्ग्रहात् (गुणार्थिकस्य पृथग् नोक्तिः) ।।५।।

आद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात्त्रेधा ।।६।।

धर्मयोर्धर्मिणोः धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः ।।७।।

धर्मेति । पर्याययोर्द्रव्ययोर्द्रव्यपर्याययोश्च मुख्याऽमुख्यरूपतया यद्विवक्षणं स एवंरूपोऽनैके गमा बोधमार्गा यस्यासौ नैगमः ।।७।।

अस्योदाहरणाय सूत्रत्रयीमाहुः-

सच्चैतन्यमात्मनीति धर्मयोः ।।८।।

सदिति । धर्मयोरिति प्रधानोपसर्जनभावेनेति सम्बन्धनीयम् । अत्र चैतन्याख्यस्य व्यञ्जनपर्यायस्य प्राधान्येन विवक्षणम्, विशेष्यत्वात् । सत्त्वाख्यस्य तु व्यञ्जनपर्यायस्योपसर्जनभावेन, तस्य चैतन्यविशेषणत्वादिति धर्मद्वयगोचरो नैगमस्याद्यो भेदः ।।८।।

वस्तुपर्यायवद्द्रव्यं इति धर्मिणोः ।।९।।

पर्यायवद् द्रव्यं वस्तु वर्तते इति विवक्षायां पर्यायवद्द्रव्याख्यस्य धर्मिणो विशेष्यत्वेन प्राधान्यम्, वस्त्वाख्यस्य तु विशेषणत्वेन गौणत्वम् । यद्वा किं वस्तुपर्यायवद्द्रव्यमिति विवक्षायां वस्तुनो विशेष्यत्वात्प्राधान्यम् पर्यायवद्द्रव्यस्य तु विशेषणत्वाद् गौणत्वमिति धर्मिद्वयगोचरोऽयं द्वितीयः ।।९।।

क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीव इति तु धर्मधर्मिणोः ।।१०।।

विषयासक्तजीवाख्यस्य धर्मिणो मुख्यता (विशेष्यत्वात्) सुखलक्षणस्य तु धर्मस्याप्रधानता (विशेषणत्वात्) इति धर्मधर्म्यालम्बनोऽयं तृतीयः । न चैवमस्य प्रमाणात्मकत्वानुषङ्गो धर्मधर्मिणोः प्राधान्येनात्र ज्ञप्तेरसम्भवात् तयोरन्यतर एव हि नैगमेन प्रधानतयानुभूयेत । प्राधान्येन द्रव्यपर्यायद्वयात्मकं चार्थमनुभवद्विज्ञानं प्रमाणं ज्ञेयं नान्यत् ।।१०।।

धर्मद्वयादीनामैकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिर्नैगमाभासः ।।११।।

धर्मेति । धर्मद्वयादीनामादिशब्दाद्धर्मिद्वयधर्मिधर्मद्वययोः परिग्रहः ।।११।।

यथात्मनि सत्त्वचैतन्ये परस्परमत्यन्तपृथग्भूते इत्यादि ।।१२।।

इत्यादिरिति । आदिना वस्त्वाख्यपर्यायवद्द्रव्याख्ययोर्धर्मिणोः सुखजीवलक्षणयोः धर्मधर्मिणोश्च सर्वथा पार्थक्येन कथनं तदाभासत्वेन ज्ञेयम् । नैयायिकवैशेषिकदर्शनं चैतदाभासतया ज्ञेयम् ।।१२।।

सामान्यमात्रग्राही परामर्शः सङ्ग्रहः ।।१३।।

सामान्येति । सामान्यमात्रं सत्त्वद्रव्यत्वादिकं गृह्णातीत्येवंशीलः सङ्ग्रहः ।

अयमर्थः- स्वजातेर्दृष्टेष्टाभ्यामविरोधेन विशेषाणामेकरूपतया यद्ग्रहणं स सङ्ग्रहः ।।१३।।

अयमुभयविकल्पः परोऽपरश्च ।।१४।।

अशेषविशेषष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः परः सङ्ग्रहः ।।१५।।

विश्वमेकं सदविशेषादिति यथा ।।१६।।

विश्वमेकं सदविशेषादिति यथेति । अस्मिन्नुक्ते हि सदिति ज्ञानाभिधानानुवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताकत्वेनैकत्वेनैकत्वमशेषार्थनां सङ्गृह्यते ।।१६।।

सत्ताद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान्निराचक्षाणस्तदाभासः ।।१७।।

सत्ताद्वैतेति । अद्वैतवादिदर्शनान्यखिलानि साङ्ख्यदर्शनं चैतदाभासत्वेन प्रत्येयम् ।।१७।।

यथा सत्तैव तत्त्वं ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात् ।।१८।।

द्रव्यत्वादीनि अवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्भेदेषु गजनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसङ्ग्रहः ।।१९।।

द्रव्येति । द्रव्यत्वमादिर्येषां पर्यायत्वप्रभृतीनां तानि तथा, अवान्तरसामान्यानि सत्ताख्यमहासामान्यापेक्षया कतिपयव्यक्तिनिष्ठानि । तद्भेदेषु द्रव्यत्वाश्रयभूतविशेषेषु द्रव्यपर्यायादिषु गजनिमीलिकामुपेक्षाम् ।।१९।।

धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्याणामैक्यं द्रव्यत्वाभेदादित्यादिर्यथा ।।२०।।

अत्र द्रव्यं द्रव्यं इत्यभिन्नज्ञानाभिधानलक्षणलिङ्गानुमितद्रव्यत्वात्मकत्वेनैक्यं षण्णामपि धर्मादिद्रव्याणां सङ्गृह्यते । आदितश्चेतनाचेतनपर्यायाणां सर्वेषामेकत्वं पर्यायत्वाविशेषादित्यादि दृश्यम् ।।२०।।

द्रव्यत्वादिकं प्रतिजानानस्तद्विशेषान्निह्नुवानस्तदाभासः ।।२१।।

यथा द्रव्यत्वमेव तत्त्वं ततोऽर्थान्तरभूतानां द्रव्याणामनुपलब्धेरित्यादि ।।२२।।

सङ्ग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसन्धिना क्रियते स व्यवहारः ।।२३।।

सङ्ग्रहेणेति । सङ्ग्रहगृहीतान्सत्त्वाद्यर्थान्विधाय, न तु निषिध्य यः परामर्शविशेषस्तानेव विभजते स व्यवहारः ।।२३।।

यथा यत्सत्तद् द्रव्यं पर्यायो वेत्यादि ।।२४।।

यत्सत्तद् द्रव्यं पर्यायो वेत्यादि । आदिशब्दादपरसङ्ग्रहसङ्गृहीतार्थ-गोचरव्यवहारोदाहरणम्, यद् द्रव्यं तज्जीवादि षड्विधम् । यः पर्यायः स द्विविधः क्रमभावी सहभावी चेति । एवं यो जीवः स मुक्तः संसारी च । यः क्रमभावी पर्यायः स क्रियारूपोऽक्रियारूपश्चेति।।२४।।

यः पुनरपारमार्थिकं द्रव्यपर्यायप्रविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभासः ।।२५।।

यथा चार्वाकदर्शनम् ।।२६।।

चार्वाको हि प्रमाणप्रतिपन्नं जीवद्रव्यं पर्यायादिप्रविभागं कल्पनारोपितत्वेनापह्नुते भूतचतुष्टयप्रविभागमात्रं तु स्थूललोकव्यवहारानुयायितया समर्थयते इत्यस्य दर्शनं व्यवहाराभासतयोपदर्शितम् ।।२६।।

द्रव्यार्थिकं त्रिधोक्त्वा पर्यायार्थिकमाहुः-

पर्यायर्थिकश्चतुर्धा ऋजुसूत्रः शब्दः समभिरूढ एवम्भूतश्च ।।२७।।

ऋजु वर्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रः ।।२८।।

ऋजु अतीतानागतकाललक्षणकौटिल्यवैकल्यात् प्राञ्जलम् । अयं हि द्रव्यं सदपि गुणीभावान्नार्पयति । पर्यायांस्तु क्षणध्वंसिनः प्रधानतया दर्शयति ।।२८।।

यथा सुखविवर्तः सम्प्रत्यस्तीत्यादि ।।२९।।

सुखविवर्तः सम्प्रत्यस्तीत्यादि। अनेन हि वाक्येन क्षणस्थायि सुखाख्यं पर्यायमात्रं प्राधान्येन प्रदर्श्यते, तदधिकरणभूतं त्वात्मद्रव्यं गौणतया नार्प्यते । आदितो दुःखपर्यायोऽस्तीत्यादि ।।२९।।

सर्वथा द्रव्यापलापी तदाभासः ।।३०।।

यथा तथागतमतम् ।।३१।।

तथागतो हि प्रतिक्षणविनश्वरान् पर्यायानेव पारमार्थिकतया समर्थयते तदाधारभूतं तु द्रव्यं तिरस्कुरुते इत्येतन्मतं तदाभासतयोदाहृतम् ।।३१।।

कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः ।।३२।।

कालेति । कालादिभेदेन काल-कारक-लिङ्ग-सङ्ख्या-पुरुषोपसर्ग-भेदेन ।।३२।।

यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादि ।।३३।।

सुमेरुरित्यादिः । अत्रातीतवर्तमानभविष्यत्कालत्रयभेदात् कनकाचलस्य भेदं शब्दनयः प्रतिपद्यते, द्रव्यरुपतया पुनरभेदममुष्योपक्षते । एतञ्च कालभेदे उदाहरणम् । करोति क्रियते कुम्भ इति कारकभेदे, तटस्तटी तटमिति लिङ्गभेदे, दाराः कलत्रमित्यादि सङ्ख्याभेदे, एहि मन्ये रथेन यास्यसि नहि यास्यसि यातस्ते पितेति पुरुषभेदे, सन्तिष्ठते अवतिष्ठते इत्युपसर्गभेदे ।।३३।।

तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः ।।३४।।

तद्भेदेन कालादिभेदेन तस्य ध्वनेस्तमेवार्थभेदमेव । शब्दाभासः ।।३४।।

यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्नकालाः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति भिन्नकालशब्दत्वात्तादृक्सिध्दान्यशब्दवदित्यादि ।।३५।।

तादृक्सिध्दान्यशब्दवदित्यादिरिति । अनेन हि वचनेन कालादिभेदाद्भिन्न-स्यैवार्थस्याभिधायकत्वं शब्दानां व्यञ्जितम्, एतच्च प्रमाणविरुद्धम् । आदिशब्दात् करोति क्रियते कट इत्यादि शब्दनयाभासोदाहरणं सूचितम् ।।३५।।

पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थमभिरोहन् समभिरूढः ।।३६।।

पर्यायेति । शब्दनयो हि पर्यायभेदेऽप्यर्थाभेदमभिप्रैति समभिरूढस्तु पर्यायभेदे भिन्नानर्थानभिमन्यते । अभेदं त्वर्थगतं पर्यायशब्दानामुपेक्षते ।।३६।।

इन्द्रनादिन्द्रः शकनाच्छक्रः पूर्दारणात्पुरन्दर इत्यादिषु यथा ।।३७।।

इत्यादिषु यथेति । पर्यायशब्देषु यथा निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन्नभिप्रायविशेषः समभिरूढस्तथान्येष्वपि घटकुटकुम्भादिषु द्रष्टव्यः ।।३७।।

पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभासः ।।३८।।

यथेन्द्रः शक्रः पुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव भिन्नशब्दत्वात् करिकुरङ्गतुरङ्गशब्दवदित्यादि ।।३९।।

शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियादिविशिष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युप-गच्छन्नेवम्भूतः ।।४०।।

शब्देति । समभिरूढो हि इन्दनादिक्रियायां सत्यामसत्यां च वासवादेरर्थस्येन्द्रादिव्यपदेशमभिप्रैति, पशुविशेषस्य गमनक्रियायां सत्यामसत्यां च गोशब्दव्यपदेशवत् । तथारूढेः सद्भावात् । एवम्भूतस्त्विन्दनादिक्रियापरिणतमर्थं तत्क्रियाकाले इन्द्रादिव्यपदेशभाजमभिमन्यते । नहि कश्चिदक्रियाशब्दोऽस्यास्ति । गौरश्व इत्यादिजातिशब्दाभिमतानामपि क्रियाशब्दत्वात् । गच्छतीति गौः, आशुगामित्वादश्व इति, शुक्लो नील इति गुणशब्दाभिमता अपि क्रियाशब्दा एव शुचिभवनाच्छुक्लो नीलनान्नील इति, देवदत्तो यज्ञदत्त इति यदृच्छाभिमता अपि क्रियाशब्दा एव देव एनं देयात्, यज्ञ एनं देयादिति । संयोगिद्रव्यशब्दाः

समवायिद्रव्यशब्दाश्चाभिमताः क्रियाशब्दा एव दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी, विषाणमस्यास्तीति विषाणीत्यस्तिक्रियाप्रधानत्वात् ।।४०।।

यथेन्दनमनुभवन्निन्द्रः शकनक्रियापरिणतः शक्रः पूर्दारणप्रवृत्तः पुरन्दर इत्युच्यते ।।४१।।

क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपँस्तु तदाभासः ।।४२।।

क्रियाविष्टं वस्तु ध्वनिनाभिधेयतया प्रतिजानानोऽपि यः परामर्शस्तदनाविष्टं तत्तेषां तथा क्षिपति न तूपेक्षते स एवम्भूताभासः ।।४२।।

यथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यं घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात् पटवदित्यादि ।।४३।।

पटवदित्यादिरिति । अनेन हि वचसा क्रियानाविष्टस्य घटादेर्वस्तुनो घटादिशब्दवाच्यतानिषेधः क्रियते स च प्रमाणबाधित इत्येवम्भूताभासता ।।४३।।

कः पुनरत्र बहुविषयः को वाल्पविषयो नय इति विवेचयन्ति-

एतेषु चत्वारः प्रथमेऽर्थनिरूपणप्रवणत्वादर्थनयाः ।।४४।।

शेषास्त्रयः शब्दवाच्यार्थगोचरतया शब्दनयाः ।।४५।।

पूर्वःपूर्वो नयः प्रचुरगोचरः परः परस्तु परिमितविषयः ।।४६।।

पूर्वेति । नैगमसङ्ग्रहयोस्तावन्न सङ्ग्रहो बहुविषयो नैगमात्परः किं तर्हि नैगम एव सङ्ग्रहात्पूर्व इत्याहुः-

सन्मात्रगोचरसङ्ग्रहान्नैगमो भावाभावभूमिकत्वाद्भूमविषयः ।।४७।।

सन्मात्रेति । भावाभावभूमिकत्वात् भावाभावविषयत्वात् । भूमविषयो बहुविषयः ।।४७।।

सद्विशेषप्रकाशकाद् व्यवहारतः सङ्ग्रहः समस्तसमूहोपदर्शकत्वाद्बहुविषयः ।।४८।।

सदिति । व्यवहारो हि कतिपयान् सत्प्रकारान् प्रकाशयतीत्यल्पविषयः ।।४८।।

वर्त्तमानविषयादृजुसूत्राद् व्यवहारस्त्रिकालविषयावलम्बित्वादनल्पार्थः ।।४९।।

कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदर्शिनः शब्दादृजुसूत्रस्तद्विपरीतवेदकत्वान्महार्थ ।।५०।।

तद्विपरीतवेदकत्वान्महार्थ इति । शब्दो हि कालादिभेदाद्भिन्नमर्थमुपदर्शयतीति स्तोकविषयः । ऋजुसूत्रस्तु कालादिभेदतोऽप्यभिन्नमर्थं सूचयतीति बहुविषयः ।।५०।।

प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढाच्छब्दस्तद्विपर्ययानुयायित्वात्प्रभूतविषयः ।।५१।।

प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवम्भूतात् समभिरूढस्तदन्यथार्थस्थापकत्वान्महागोचरः ।।५२।।

एवम्भूतो हि क्रियाभेदेन भिन्नमर्थं प्रतिजानीते इति तुच्छविषयोऽसौ समभिरूढस्तु तद्भेदेनाप्यभिन्नं भावमभिप्रैतीति प्रभूतविषयः ।।५२।।

नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गीमनुव्रजति ।।५३।।

नयेति । नयसप्तभङ्गीष्वपि प्रतिभङ्गं स्यात्कारस्यैवकारस्य च प्रयोगसद्भावात् । विकलादेशस्वभावा हि नयसप्तभङ्गी वस्त्वंशमात्रप्ररूपकत्वात्, सकलादेशस्वभावा तु प्रमाणसप्तभङ्गी सम्पूर्णवस्तुस्वरूपप्रकाशकत्वात् ।।५३।।

एवं नयस्य लक्षणसङ्ख्याविषयान् व्यवस्थाप्य फलमाहुः-

प्रमाणवदस्य फलं व्यवस्थापनीयम् ।।५४।।

प्रमाणवदिति । अस्येति नयस्य । यथानन्तर्येण प्रमाणस्य सम्पूर्णवस्त्वज्ञाननिवृत्तिः फलमुक्तम् । तथा नयस्यापि वस्त्वेकदेशाज्ञाननिवृत्तिः फलमानन्तर्येणावधार्यम् । यथा च पारम्पर्येण प्रमाणस्योपादानहानोपेक्षाबुद्धयः सम्पूर्णवस्तुविषयाः फलत्वेनोक्तास्तथा नयस्यापि वस्त्वंशविषयसत्परम्पराफलत्वेन ज्ञेयाः, तदेतद् द्विप्रकारमपि नयस्य फलं ततः कथञ्चिद्भिन्नमभिन्नं वावगन्तव्यम् ।।५४।।

तदित्थं प्रमाणनयतत्त्वं व्यवस्थाप्याखिलप्रमाणनयाणां व्यापकं प्रमातारमाहुः-

प्रमाता प्रत्यक्षादिसिद्ध आत्मा ।।५५।।

प्रमातेति। प्रत्यक्षादिप्रतीतः प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणप्रतीतः । तथाहि - सुखी दुःखी चाहमित्याद्यहंप्रत्ययश्चेतनातत्त्वमात्माख्यमर्पयत्येवेति प्रत्यक्षात्सिद्धः । अनुमानतोऽप्यात्मा सिध्द्यत्येव, तथाहि - चैतन्यं तत्त्वादिविलक्षणाश्रयाश्रितम्, तत्र बाधकोपपत्तौ सत्यां कार्यत्वान्यथानुपपत्तेः । नायं हेतुर्विशेष्यासिद्धः कटकुटज्ञानादिविचित्रपरिणामपरम्परायाः कादाचित्कत्वेन पटादिवत्तत्रकार्यत्व-प्रसिद्धेः । नापि विशेषणासिद्धः न शरीरेन्द्रियविषयाश्चैतन्यधर्माणो रूपादिमत्त्वाद्भौतिकत्वाद्वा घटवदित्यनेन तत्र तस्य बाधनात् । नाप्ययं व्यभिचारी विरुद्धो वा तन्वादिलक्षणाश्रयाश्रिताद्विपक्षात्तन्वादिवर्तिनो रूपादेः शरीरत्वसामान्याद्वा सविशेषणकार्यत्वहेतोरत्यन्तं व्यावृत्तत्वात् । उपयोगलक्षणो जीव इत्यागमोऽप्यात्मानमुद्योतयति ।।५५।।

आत्मनः स्वाभिमतधर्मान् वर्णयन्ति-

चैतन्यस्वरूपः परिणामी कर्ता साक्षाद्भोक्ता स्वदेहपरिमाणः प्रतिक्षेत्रं भिन्नः पौद्गलिकादृष्टवांश्चायम् ।।५६।।

चैतन्येति । चैतन्यं साकारनिराकारोपयोगाख्यं स्वरूपं यस्यासौ चैतन्यस्वरूपः । परिणमनं प्रतिसमयमपरापरपर्यायेषु गमनं परिणामः स

नित्यमस्यास्तीति परिणामी । करोत्यदृष्टादिकमिति कर्ता । साक्षाद्भुङ्क्ते सुखादिकमिति साक्षाद्भोक्ता । स्वदेहपरिमाणः स्वोपात्तवपुर्व्यापकः । प्रतिक्षेत्रं प्रतिशरीरं भिन्नः पृथक् । पौद्गलिकादृष्टवान् पुद्गलघटितकर्मपरतन्त्रः । अयमात्मा ।।५६।। आत्मन एव विशेषान्तरमाहुः-

तस्योपात्तपुंस्त्रीशरीरस्य सम्यग्ज्ञानक्रियाभ्यां कृत्स्नकर्मक्षयस्वरूपा सिद्धिः ।।५७।।

तस्येति । तस्यात्मन उपात्तपुंस्त्रीशरीरस्य । एतेन स्त्रीनिर्वाणदूषिणः काष्ठाम्बरान् शिक्षयन्ति ।

।। इति नयात्मस्वरूपनिर्णयो नाम सप्तमः परिच्छेदः ।।

॥ नयप्रकाशस्तवः ॥

(सवृत्तिकः)

पंडितश्रीपद्मसागरगणिवर

।। नयप्रकाशस्तवः ।।

गङ्गाप्रवाहा इव वाग्विलासा जयन्ति यस्य स्फुरदङ्गिरङ्गाः ।
स्वयंपवित्रा इति पूतविश्वाः सोऽस्तु श्रिये श्रीजिनवर्द्धमानः ।।१।।

नत्वा तदीयक्रमपुण्डरीकं स्मृत्वा प्रसन्नां श्रुतदेवतां च ।
नयप्रकाशस्तवनस्य वृत्तिं स्वयंकृतस्यात्मकृते करोमि ।।२।।

इह हि त्रिजगतीपति-प्रतिपादित-प्रवचन-रचनावितथ-गुणग्राम-निरूपकत्वेन यद्यपि अस्य सकल-स्तवन-ग्रन्थस्यापि अशेषदुरितोच्छेदकताऽस्ति एव, तथापि निजहर्ष-प्रकर्षोच्छ्वसित-मनोवाक्कायशुद्ध्या प्रथमं प्रणतस्यैव स्तवनं विशिष्टफलदं भवति; इति कृत्वा प्रथमं मनःकायशुद्ध्या कृतमपि प्रायस्तद्व्यञ्जकत्वादिना-ऽतिशयितत्वादाद्य-काव्याद्यपदेन नमस्कारं वाग्गोचरीकरोति-

तस्मै नमः श्रीजिनशासनाय
सत्सप्तभङ्गीनयवासनाय ।

आसाद्य माद्यन्ति यदीयदेश-

मप्यक्षपादादिकदर्शनानि ।।१।।

व्याख्या- 'तस्मै नमः श्रीजिनशासनाय' इति तावदन्वयः । अत्र हि निरूप्यस्यैव जिनशासनस्य नमस्कारकरणादर्हदादेरविशेषो दर्शितो भवतीति । किंविशिष्टाय जिनशासनाय ? **'सत्सप्तभङ्गीनयवासनाय'** । सप्तभङ्ग्या नयानां च वासना भावना यत्र, स तथा, तस्मै ।

ननु नयसप्तभङ्ग्याः परस्परनिरपेक्षनयानां च वासना कणादादिशासनेऽप्यस्त्येव, **इत्याह-'सत्'** इति । सत्पदं सप्तभङ्गीनयपदयोर्विशेषणम् । तथा च सती-प्रधाना सप्तभङ्गी सत्सप्तभङ्गी- प्रमाणसप्तभङ्गी, इत्यर्थः । प्रधानत्वं चास्याः सकलादेशरूपत्वात् । सन्तः-समुदितत्वेन यावद्वस्त्वंशग्राहित्वात् प्रधाना नयाः सन्नयाः । तथा च-सत्सप्तभङ्ग्याः सन्नयानां च वासना जिनशासनमन्तरेण न क्वचिदप्यस्ति, इति तात्पर्यम् ।

ननु तच्छब्दस्य यच्छब्दसापेक्षत्वेन किं तज्जिनशासनम् ? **इत्याह-'आसाद्य'** इति । **यदीयदेशम्-** अंशमासाद्य-प्राप्य **अक्षपादादिकदर्शनानि माद्यन्ति**-मदवन्ति भवन्ति । कोऽर्थः ? अक्षपादादिदर्शनानि हि समुदितसप्तनयात्मकश्रीजिनशासनादेवैकैकं मिथोनिरपेक्षनैगमादिनयमाश्रित्य बर्हिभूतान्यपि माद्यन्ति, इत्यर्थः । यथा चैतेषां मिथोनिरपेक्षैकैकनैगमादिनयाश्रयणं तथाऽग्रे वक्ष्यामः ।

ननु श्रोतुरभिधेयप्रयोजनज्ञानपूर्विकैव प्रवृत्तिर्भवति; अत्र चाभिधेयप्रयोजनयोरनुक्तत्वात्कथं प्रवृत्तिः ? इति **चेत्**; न, अत्र **'सत्सप्तभङ्गीनयवासनाय'** इति पदेनाभिधेयप्रयोजनयोरुक्तत्वात् । सप्तभङ्गीनया एवाभिधेयम् । तद्वासना चात्र साक्षात्प्रयोजनम्, परम्परया चात्रानुक्तोऽपि मोक्ष एव, इति प्रथमवृत्तार्थः ।।१।।

अथ सप्तभङ्गीनयनिरूपणं वाक्यप्रसिद्ध्या भवति, तद्वाक्यं च त्रिधा, तत्रापि दुर्नयवाक्यं हेयं, नयवाक्यं चोपेक्ष्यं, प्रमाणवाक्यं तूपादेयम्, इत्येतद्दर्शयति-

प्रमाणवाक्यं नयवाक्यगर्भितं

निर्दूषणं दुर्नयवाक्यदूरितम् ।

स्यादेवयुक्तं जिनराजशासने

सतां चमत्कारकरं भवेन्न किम् ? ।।२।।

व्याख्या-'**जिनराजशासने**' '**सतां**'-जिनाज्ञावतां '**प्रमाणवाक्यं**' '**किं**' '**चमत्कारकरं**' '**न**' '**भवेत्**' ? अपि तु भवत्येव, इत्यर्थः । ननु कीदृशं प्रमाणवाक्यं भवति ? इति जिज्ञासायामाह-'**स्यादेवयुक्तं**' । स्यादित्यव्ययपदम्, समय-सङ्केतात्कथंचित्त्ववाचकम्; तेन, प्रायोऽन्ययोगव्यवच्छेदपरेण एवकारणे च युक्तम्-कलितम्; यथा-'स्यादस्त्येव घटः' इति । प्रमाणत्वं चास्य 'स्यादेव' पदलाञ्छितत्वात् । तत्र कथञ्चित्प्रकारेण स्वरूपादिना, न तु पररूपादिना घटेऽस्तित्वं स्यात्पदेन प्रतिपाद्यते । एवपदेन चास्तित्वविरुद्धनास्तित्वादीनां व्यवच्छेदः प्रतिपाद्यते ।

ननु जैनमते विरुद्धधर्माध्यासाङ्गीकारात् कालावच्छेदेन देशावच्छेदेन च यदा यत्रास्तित्वं प्रतिपाद्यते, तदा तत्र नास्तित्वमपि प्रतिपाद्यम्, तत्कथम् 'स्यादस्त्येव घटः' इत्यत्र एवकारेण नास्तित्वव्यवच्छेदः क्रियते ? इति **चेत्**; सत्यम्, यद्यप्येकस्मिन्नेव कालेऽप्येकस्मिन्नेव देशेऽस्तित्वं नास्तित्वं च वक्तव्यमेव, तथापि स्वरूपभेदस्तु सर्वथैव तत्र निगद्यः । नहि येनैव स्वरूपेण तत्रास्तित्वं प्रतिपाद्यते, तेनैव स्वरूपेण नास्तित्वमपि प्रतिपादयितुं शक्यम् ।

ननु अस्तित्वनास्तित्वयोः कः स्वरूपभेदः ? इति **चेत्**; शृणु, अस्तित्वं तावत्स्वस्वरूपेण, नास्तित्वं च परस्वरूपेण । पृथुबुध्नोदराद्याकारजलाहरणादिक्रिया-कर्तृत्वादिना स्वस्वरूपेण चास्त्येव घटः; तन्तुजन्यत्वशीतत्राणादिक्रियाकर्तृत्वादिना परस्वरूपेण च नास्त्येव घटः; इति सिद्धं स्यादस्त्येव घटः; इति । अत्र एवकारेण अस्तित्वविरुद्धनास्तित्वादीनां व्यवच्छेदो भवति, इति सुष्ठूक्तम्-'**स्यादेवयुक्तं**' '**प्रमाणवाक्यम्**' इति ।

'अस्त्येव घटः' इति प्रमाणवाक्यमस्तु, स्यादित्यधिकम्; इति **चेत्**; न, दुर्नयवाक्येऽतिप्रसक्तेः ।

ननु दुर्नयवाक्यं कीदृशम् ? इति **चेत्**; शृणु, 'अस्त्येव घटः' इति तावद्दुर्नयवाक्यम् । अत्र हि केवलेनैवकारेणास्तित्वव्यतिरिक्तास्तत्समानाधिकरणा अप्यनन्ता धर्मा व्यवच्छिद्यन्ते । अत एवास्य मिथ्यात्वम्, अस्तित्वसमानाधिकरणा-

नामप्यनन्तानां धर्माणामपलापात् । अत एव सूत्रेऽपि प्रमाणवाक्यविशेषणं **'दुर्नयवाक्यदूरितम्'** इति । तल्लक्षणस्पर्शमात्राभावद्दुर्नयवाक्यं दूरीतं-दूरीकृतं येन, तत्तथा, इति ।

अथ 'स्याद् घटोऽस्ति' इत्येवास्तु, 'एव' इति पदमधिकम्, इति **चेत्;** न, एवं हि नयवाक्येऽतिप्रसक्तेः ।

ननु नयवाक्यं कीदृशम् ? इति **चेत्;** शृणु, 'स्यादस्ति घटः' इति तावन्नयवाक्यम् । अत्र हि स्यात्पदलाञ्छितत्वे क्रियमाणेऽपि केनचित्प्रकारेण घटेऽस्तित्वमात्रं सिद्ध्यति, तत्समानाधिकरणानामनन्तानामपि तद्व्यतिरिक्तानां धर्माणामुपेक्षैव जायते ।

ननु तर्हि नयवाक्यं किं प्रमाणम्, अप्रमाणं वा ? इति **चेत्;** शृणु नयवाक्यं तावन्न प्रमाणम्, नाप्यप्रमाणम्; किन्तु प्रमाणैकदेशः । तेन हि प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्माणां मध्यादेकस्यैवास्तित्वादेर्धर्मस्य ग्रहात् ।

ननु एकधर्मग्राहकत्वाविशेषात्कथं नास्य दुर्नयवाक्यत्वम् ? इति **चेत्;** न, दुर्नयवाक्यं तु शेषधर्मापलापकत्वेनैकधर्मस्य ग्राहकम्; इदं तु शेषधर्मोपेक्षकत्वेनैकधर्मग्राहकम्; इत्यनयोर्विशेषः । प्रमाणवाक्यैकदेशत्वं त्वस्य प्रमाणावाक्यान्तर्निष्ठत्वात्; अत एव सूत्रेऽपि प्रमाणवाक्यविशेषणं **'नयवाक्यगर्भितम्,'** इति । नयवाक्यानि समुदितत्वेन गर्भे जातान्यस्य इति नयवाक्यगर्भितम् इति ।

ननु लक्ष्यज्ञानस्य लक्षणाधीनत्वात्तेषां लक्षणानि वाच्यानि, तत्कथं नोक्तानि ? इति **चेत्;** आकर्णय, अपरधर्मापलापेनैकधर्मग्राहि वाक्यं दुर्नयवाक्यम् । 'धर्मग्राहिवाक्यं दुर्नयवाक्यम्' इत्युक्ते प्रमाणवाक्येऽतिप्रसक्तिः, तत उक्तम्,- **'एक'** इति । तथा च प्रमाणवाक्येऽतिप्रसक्तिनिरासः, तस्य समुदितयावद्धर्मग्राहित्वेन एकधर्मग्राहित्वाभावात् । तावत्युक्ते नयवाक्येऽतिप्रसक्तिः, तस्याप्येकधर्मग्राहित्वात्; अत उक्तम्-**'धर्मापलापेन'** इति । तथा च यावद्धर्मापलापमादायासम्भवः, तत उक्तम्-**'अपरधर्म'** इति; ग्राह्यधर्मप्रतियोगिकान्योऽन्याभाव-प्रतियोगिधर्मापलपनम्, इत्यर्थः ।

नयवाक्यलक्षणं तु अपरधर्मग्रहोपेक्षकत्वे सत्येकधर्मग्राहिवाक्यं नयवाक्यम् ।

धर्मग्राहिवाक्यं नयवाक्यम् इत्युक्ते प्रमाणवाक्येऽतिप्रसक्तिः, तत उक्तम्-'**एक**' इति। तावत्युक्ते दुर्नयवाक्येऽतिप्रसङ्गः, तत उक्तम्-'**धर्मग्रहोपेक्षकत्वे सति**' इति। तथा च यावद्धर्मग्रहोपेक्षकत्वमङ्गीकृत्यासम्भवः; नहि यावद्धर्मग्रहोपक्षकत्वे सत्येकधर्मग्राहित्वं संभवति, तत उक्तम्-'**अपर**' इति; ग्राह्यधर्माद् व्यतिरिक्तधर्मोपेक्षकत्वम्; इत्यर्थः।

प्रमाणवाक्यं तु युगपत्सकलधर्मग्राहि वाक्यं प्रमाणवाक्यम्। दुर्नय-नयवाक्ययोरपि सकलधर्मग्राहित्वं कालादिभेदेन प्रत्येकमस्त्येव, इति ताभ्यामस्य यौगपद्येन भेदः; इति।

तदेतान्युक्तानि प्रमाणवाक्यादीनां लक्षणानि, उदाहरणानि तु प्राक्प्रोक्तानि। इति द्वितीयवृत्तार्थः ।।२।।

अथैतानि वाक्यानि सकलादेशविकलादेशस्वरूपाणि भवन्ति, तेन तयोः स्वरूपं वाच्यम्; इत्याशङ्क्याह-

एकत्रधर्मा युगपद्विरुद्धाः
कालाद्यभेदान्निहिता हि येन।
आदेशमासाद्य तमत्र शासने
जयन्ति जैनाः परवादिदर्शनम् ।।३।।

व्याख्या-'जैनाः' जिनाज्ञाधराः '**आदेशमासाद्य**' इति सकलादेशसान्निध्यं प्राप्य, इत्यर्थः।

अथ सकलादेशस्वरूपसूचनाय यच्छब्दघटितं पूर्वार्द्धं व्याक्रियते-'**येन**' सकलादेशेन, '**कालाद्यभेदात्**' इति कालादिभिरष्टभिः कृत्वाऽभेदवृत्तेः, इत्यर्थः। '**एकत्र**' इति एकस्मिन्वस्तुनि घटादौ, '**युगपत्**' समकालम्, '**विरुद्धाः**' सहानवस्थाननियमवन्तोऽस्तित्व-नास्तित्वादयो धर्माः, '**निहिताः**' स्थापिताः, इति तावत्सूत्रार्थः।

एकस्मिन्नेव हि घटादिवस्तुनि कालादिभिरष्टभिः कृत्वाऽभेदवृत्त्या प्रमाणप्रतिपन्ना अनन्ता अपि धर्मा यौगपद्येन यदाऽभिधीयन्ते, तदा सकलादेशो भवति।

के पुनः कालादयः ? कालः, आत्मरूपम्, अर्थः, सम्बन्धः, उपकारः, गुणिदेशः, संसर्गः, शब्दः, इति ।

कथमेभिरभेदवृत्त्या एकस्मिन्नेव वस्तुनि युगपद्विरुद्धधर्मग्रहः ? इति **चेत्;** निशम्यताम्-**'स्याद् घटोऽस्त्येव'** इत्यत्र घटे यत्कालमस्तित्वं तत्कालास्तत्रैव शेषा नास्तित्वादयो धर्माः सन्ति; इति कालेनाभेदवृत्तिः ।

ननु अस्तित्वेन सहाविरुद्धानां द्रव्यत्वादीनां धर्माणामेकत्रापि कालेनाभेदवृत्तिर्भवतु, परं सर्वथा तद्विरुद्धानां नास्तित्वादीनां कथं सा सम्भवति ? इति **चेत्;** सत्यम्, अस्तित्वनिरूपणसमये हि घटे नास्तित्वस्यापि वर्तमानत्वात् । तथा च अयमर्थः-**'स्यादस्त्येव घटः'** इत्युक्तेऽस्तित्वसमानाधिकरणा अनन्ता अपि धर्माः प्रतिपाद्यन्ते, घटत्वपृथुबुध्नोदराद्याकारवत्त्वद्रव्यत्वाभिधेयत्व-प्रमेयत्वादिभिरनन्तैर्धर्मैर्विशिष्टस्यैव घटस्य सत्तायोगात् । घटत्वाद्यनन्तधर्मावैशिष्ट्ये च घटस्यासत्त्वप्रसङ्गात्, तस्माद् घटेऽस्तित्व-कैवल्याभावेन केवलास्तित्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्, तत्समानाधिकरणानन्तधर्माणामपि तस्मिन्नेव काले प्रतिपादनात् कालेनाभेदवृत्तिः ।

'आत्मरूपम्' घटपर्यायत्वादिकम्, तेनान्यधर्मैः सहास्तित्वस्याभेदवृत्तिः । यथा-अस्तित्वं घटपर्यायः, तथाऽन्येऽपि धर्मा घटपर्याया एव; इत्यर्थः ।

'अर्थः' नाम आधारः, ततो य एवं घटलक्षणोऽस्तित्वस्याधारः स एवापरधर्माणामपि; इत्यर्थाभेदवृत्तिः ।

'सम्बन्धः' अविष्वग्भावरूपः, ततो य एवास्तित्वस्य घटेऽविष्वग्भावरूपः सम्बन्धः स एवापरधर्माणामपि; इति सम्बन्धाभेदवृत्तिः ।

य एव घटे लोकप्रवृत्तिलक्षण **उपकारो**ऽस्तित्वेन क्रियते, स एवान्यधर्मैरपि, सकलधर्मविशिष्ट एव घटे लोकप्रवृत्तेर्जायमानत्वात्; इत्युपकाराभेदवृत्तिः ।

'गुणी' घटः, तस्य **'देशः'** क्षेत्रं भूतलादिकम्, तदाश्रित्य यथा घटेऽस्तित्व-सद्भावः, तथाऽन्यधर्माणामपि; इति गुणिदेशाभेदवृत्तिः ।

भेदप्राधान्ये सति सम्बन्धः **'संसर्गः'** ततो य एव घटेऽस्तित्वस्य संसर्गः स एवान्यधर्माणामपि; इति संसर्गाभेदवृत्तिः ।

ननु संसर्गसम्बन्धयोः को भेदः ? **इति** चेत्; संसर्गे भेदः प्राधान्येन भवति, अभेदो गौण्येन; सम्बन्धे तु भेदो गौण्येन, अभेदः प्राधान्येन, इति तात्पर्यम् ।

य एवास्तित्वधर्मात्मकस्य घटस्य वाचकः शब्दः, स एवान्यधर्मात्मकस्यापि; इति शब्दाभेदवृत्तिः ।

इत्युक्तं सकलादेशस्वरूपम्; अयं च प्रमाणवाक्यापरपर्याय एव । विकलादेशस्वरूपं तु एतद्विपरीतत्वेन सुखावबोधत्वात् न सूत्रे प्रतिपादितम् । विकलादेशस्य सकलादेशवैपरीत्यं तु नयवाक्यात्मकत्वैनैभिरेव कालादिभिरष्टभिः कृत्वा भेदग्राहकत्वादेव ।

दुर्नयवाक्यं तु न सकलादेशात्मकम्, नापि विकलादेशात्मकम्, किन्तु-सर्वथा हेयत्वाद्बहिष्कृतमेव । इति तृतीयवृत्तार्थः ।।३।।

अथ प्रमाणवाक्यनयवाक्ययोर्विषयस्तु नया एव, ते च के ? कियन्तः ? सङ्गताश्च कथं भवन्ति ? इति जिज्ञासायामाह-

क्रमान्नयाः सप्त परैर्गृहीताः
परस्परं ये विवदन्त एव ।
सप्तापि ते श्रीजिनशासनेऽस्मि-
न्नेकीभवन्ति स्म जिनेन्द्रवाचा ।।४।।

व्याख्या-मिथो विरुद्धाः **'सप्तापि'** 'नयाः' **'श्रीजिनेन्द्रवाचा'** तीर्थकरोपदेशेन इत्यर्थः, **'एकीभवन्ति स्म,'** इति सङ्गता बभूवुः; यथा-सर्वे पुत्रा मिथो विवादपराः स्वपितुः पुरः समायातास्तदुपदेशेनैकीभवन्ति, तथा तेऽपि मिथो विरुद्धप्ररूपकत्वेन विवादपरा अनन्यगत्या भगवच्छासनाश्रयणाद् भगवत्पुरः समायाताः सन्तो भगवदुपदेशेन एकीभवन्ति स्म,' **"एगेगो मिच्छावाई सव्वे सम्मत्तवाइणो"** इति वचनात् समुदिता भवन्ति, इत्यर्थः ।

मिथो विरुद्धास्ते के नयाः ? इति, अतो यच्छब्दानुविद्धं व्याख्यानं पूर्वार्द्धेनाह-**'क्रमात्'** इति । नैगम-सङ्ग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढ-एवम्भूताश्च, इति क्रमेण समुदितत्वाभावेन ये सप्तापि नयाः परैर्बौद्धादिभिर्गृहीताः **'परस्परं'**

मिथो 'विवदन्ते' विवादवन्तो भवन्ति । एवकारस्तु कदाचिदपि विवादापरिसमाप्ति-सूचकः । ततोऽयं भावार्थः-ये नया बौद्धादिभिः पृथग्भावेनाश्रिताः सन्तो मिथ्यात्वप्ररूपकाः, त एव नयाः श्रीजिनशासने समुदितत्वेनाश्रिताः सन्तः सम्यक्त्वप्ररूपका भवन्ति, इति तावत्सूत्रार्थः ।

ननु अयं सकलोऽपि विचारो नयानां लक्षणोदाहरणादिनिरूपणेनैव विदुषां चेतश्चमत्कारं करोति, तेनैतन्निरूपणीयम् इति **चेत्;** निरूप्यते-तत्र अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः, निराकृतप्रतिपक्षस्तु नयाभासः, इत्यनयोः सामान्यलक्षणम् ।

स च द्वेधा, द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकविकल्पात् । द्रव्यमेवार्थो विषयो यस्य, स द्रव्यार्थिकः । पर्याय एवार्थो यस्य, असौ पर्यायार्थिकः, इति नयविशेषलक्षणम् । तत्र आद्यो नैगम-सङ्ग्रह-व्यवहारविकल्पात् त्रिविधः, द्वितीयस्तु ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढ-एवम्भूतविकल्पाच्चतुर्विधः ।

तत्र अनिष्पन्नार्थसङ्कल्पग्राही नैगमः । निगमो हि सङ्कल्पः, तत्र भवः, तत्प्रयोजनो वा नैगमः । यथा-कश्चित्पुरुषो गृहीतकुठारो गच्छन् 'किमर्थं भवान् गच्छति ?' इति पृष्टः सन्नाह-प्रस्थमानेतुम्, इति । एधोदकाद्याहरणे वा व्याप्रियमाणः 'किं करोति भवान् ?' इति पृष्टः प्राह-'ओदनं पचामि' इति । न चासौ प्रस्थपर्यायः, ओदनपर्यायो वा निष्पन्नः; सङ्कल्पमात्रे प्रस्थादिव्यवहारात् । यद्वा नैकगमो नैगमः, धर्मधर्मिणोर्गुणप्रधानभावेन विषयीकरणात् । 'जीवगुणः सुखम्' इत्यत्र हि जीवस्याप्राधान्यम्, विशेषणत्वात्; सुखस्य तु प्राधान्यम्, विशेष्यत्वात् । 'सुखी जीवः' इत्यादौ तु जीवस्य प्राधान्यम्, न सुखादेः, विपर्ययात् । न चास्यैव प्रमाणात्मकत्वानुषङ्गः, धर्मधर्मिणोः प्राधान्येनात्र ज्ञप्तेरसम्भवात् । तयोरन्यतर एव हि नैगमनयेन प्रधानतयाऽनुभूयते । प्राधान्येन द्रव्यपर्यायद्वयात्मकमर्थमनुभवद्विज्ञानं प्रमाणे प्रतिपत्तव्यम् । प्रमाणनिरूपणं तु मत्कृतप्रमाणप्रकाशादवसेयम् ।

सर्वथा धर्मधर्मिणोरर्थान्तरत्वाभिसन्धिस्तु नैगमाभासः, धर्मधर्मिणोः सर्वथाऽर्थान्तरत्वे धर्मिणि धर्माणां वृत्तिविरोधस्याग्रे प्रतिपाद्यमानत्वात्; इति ।

स्वजात्यविरोधेनैकत्वमुपनीयार्थानाक्रान्तभेदात् समस्तसङ्ग्रहणात् सङ्ग्रहः ।

स च परोऽपरश्च । तत्र परः सकलभावानां सदात्मनैकत्वमभिप्रैति, सर्वमेकम्, अविशेषात्; इत्याद्युक्त्या सत्तात्मत्वेनैकत्वमशेषार्थानां सङ्गृह्यतेऽनेन, इत्यर्थः ।

निराकृताशेषविशेषस्तु सत्ताद्वैताभिप्रायस्तदाभासः, प्रमाणप्रतिपन्नानन्ताशेष-धर्माणां लोपात्; इति ।

तथाऽपरसङ्ग्रहो द्रव्यत्वेनाशेषद्रव्याणामेकत्वमभिप्रैति । 'द्रव्यम्' इत्युक्ते हि अतीतानागतवर्तमानकालवर्त्तिविवक्षिताविवक्षितपर्यायद्रवणशीलानां जीवाजीवतद्भेदप्रभेदानामेकत्वेन सङ्ग्रहः ।

सामान्यविशेषाणां सर्वथाऽर्थान्तरत्वाभिप्रायो वाऽपरसङ्ग्रहाभासः, प्रतीतिविरोधात्; इति ।

सङ्ग्रहगृहीतार्थानां विधिपूर्वकमवहरणं विभजनं विभेदेन प्ररूपणं व्यवहारः । सङ्ग्रहस्तु सर्वद्रव्याणि द्रव्यम्, इति; सर्वपर्यायाश्च पर्याय, इति सङ्गृह्णाति । व्यवहारस्तु तद्विभागमभिप्रैति, यद् द्रव्यम् तद्धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवादिभेदात् षोढा इति । एवं सहभावित्वक्रमभावित्वरूपं पर्यायविभागमपि यथासम्भवमभिप्रैति व्यवहारः ।

कल्पनाऽऽरोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागमभिप्रैति व्यवहाराभासः, द्रव्यादिप्रवि-भागस्तु न सन्, प्रपञ्चरूपत्वात्; इत्यादितदुक्तिः ।

'ऋजु'=प्राञ्जलम्-वर्तमानक्षणमात्रं सूत्रयति, इति ऋजुसूत्रः ; सुखक्षणः सम्प्रत्यस्ति इत्यादिः । द्रव्यस्य सतोऽप्यनर्पणात्, अतीतानागतयोश्च विनष्टानुत्पन्नत्वेन असम्भवात् । न चैवं लोकव्यवहारविलोपप्रसङ्गः, नयस्यास्यैवं विषयमात्रप्ररूपणात्, लोकव्यवहारस्तु सकलनयसमूहसाध्य इति ।

अत्र केचिदेवमपि निरूपयन्ति-ऋजुसूत्रः पुनरिदं मन्यते वर्तमानक्षणवर्त्त्येव वस्तुरूपम्, न अतीतमनागतं च; अतीतस्य विनष्टत्वात्, अनागतस्य चानुत्पन्नत्वात्, खरविषाणस्येव अर्थक्रियाकारित्वाभावात् । यदेव अर्थक्रियाकारि, तदेव वस्तु, अत एवास्याभिप्रायेणानुपयोगित्वात् परकीयं वस्त्वप्यवस्त्वेव इति ।

यस्तु सर्वद्रव्यं सर्वथा प्रतिक्षिपति अखिलार्थानां प्रतिक्षणं क्षणिकत्वाभिमानात् स तदाभासः प्रतीतिविरुद्धत्वात्, इति ।

काल-कारक-लिङ्ग-संख्या-साधनोपसर्गभेदाद्भिन्नमर्थं शपति इति शब्दो नयः, शब्दप्रधानत्वात् । ततोऽपास्तं वैयाकरणानां मतम् । ते हि **'विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो भविता'** इत्यत्र कालभेदेऽपि एकं पदार्थमादृत्य **'यो विश्वं द्रक्ष्यति सोऽस्य पुत्रो भविता'** इत्यत्र भविष्यत्कालेनातीतकालस्याभेदाभिधानात्, तथाव्यवहारोपलम्भात् ।

तच्चानुपपन्नम्, कालभेदेऽप्यर्थाभेदेऽतिप्रसङ्गात्, भरतेश्वरब्रह्मदत्तयोरप्यतीतानागतार्थगोचरयोरेकार्थतापत्तेः । अथानयोर्भेदविषयत्वान्नैकार्थता; 'विश्वदृश्वा भविता' इत्यत्रानयोरप्यसौ माभूत्, तत एव न खलु 'विश्वं दृष्टवान्-विश्वदृश्वा' इति शब्दस्य योऽर्थोऽतीतकालः, स भविता, इति शब्दस्यानागतकालो युक्तः पुत्रस्य भाविनोऽतीतत्वविरोधात्, अतीतकालस्याप्यनागतत्वाध्यारोपात्, एकार्थत्वे तु न परमार्थतः कालभेदेऽप्यभिन्नार्थव्यवस्था स्यात् ।

तथा करोति क्रियत इति कर्तृकर्मकारकभेदेऽप्यभिन्नमर्थं पुनः **केचिदाद्रियन्ते** । य करोति किञ्चित्, स एव क्रियते केनचित्, इति प्रतीतेः । **तदप्यसाम्प्रतम्** । देवदत्तः कटं करोति, इत्यत्रापि कर्तृकर्मणोर्देवदत्तकटयोरभेदप्रसङ्गात् ।

तथा 'पुष्यस्तारक' इत्यत्र लिङ्गभेदेऽपि नक्षत्रार्थमेकमेवाद्रियन्ते पुनः **केचित्, तदप्यसङ्गतम्**; 'घटः, कुटी' इत्यत्राप्येकत्वानुषङ्गात् । तथा 'आपोऽम्भः' इत्यत्र संख्याभेदेऽप्येकमर्थं जलाख्यं मन्यन्ते **केचित्, तदप्युक्तम्**, 'पटस्ते तव' इत्यत्राप्येकत्वानुषङ्गात् ।

तथा 'एहि, मन्ये रथेन यास्यामि' 'न हि यास्यसि' 'यातस्ते पिता' इति साधनभेदेऽप्यर्थाभेदमाद्रियन्ते पुनः **केचित्, तदप्यसङ्गतम्**, 'अहं पचामि, त्वं पचसि,' इत्यत्राप्येकार्थत्वप्रसङ्गात् ।

तथा 'संतिष्ठते, प्रतिष्ठते' इत्यत्रोपसर्गभेदेऽप्यर्थाभेदमाद्रियन्ते पुनः **केचित्**, उपसर्गस्य धात्वर्थमात्रोद्द्योतकत्वात्, **तदप्यचारु** । 'तिष्ठति, प्रतिष्ठते' इत्यत्रापि स्थितिगतिक्रिययोरभेदप्रसङ्गात् । ततः कालादिभेदाद्भिन्न एवार्थः शब्दस्य । तथाहि विभिन्नकालादिशब्दो विभिन्नार्थप्रतिपादकः, विभिन्नकालादिशब्दत्वात्, तथाविधान्यशब्दवत् ।

ननु एवं लोकव्यवहारविरोधः स्यात्, इति **चेत्**; विरुध्यताम् । तत्त्वं तु मीमांसते, न हि भेषजमातुरेच्छानुवृत्ति ।

नानार्थान् समेत्याभिमुख्येन रूढः समभिरूढः । शब्दनयो हि पर्यायशब्दभेदान्नार्थ-भेदमभिप्रैति । कालादिभेदत एवार्थभेदाभिप्रायात् । अयं तु पर्यायभेदेनाप्यर्थभेदमभिप्रैति । तथाहि-'इन्द्रः, शक्रः, पुरन्दरः' इत्याद्याः शब्दा विभिन्नार्थगोचराः, विभिन्नशब्दत्वात्, वाजिवारणवत् इति ।

'एवम्' इत्थं विवक्षितक्रियापरिणामप्रकारेण **'भूतम्'** परिणतमर्थं योऽभिप्रैति, स एवं भूतो नयः । समभिरूढो हि शकनक्रियायां सत्यामसत्यां वा देवराजार्थस्य शक्रव्यपदेशमभिप्रैति, पशुविशेषस्य गमनक्रियायां सत्यामसत्यां वा गोव्यपदेशमभिप्रैति, तथा रूढेः सद्भावात् । अयं तु शकनक्रियापरिणतिक्षणे एव शक्रव्यपदेशमभिप्रैति, न पूजनाभिषेचनक्षणे, अतिप्रसङ्गात् । गमनक्रियापरिणतिक्षणे एव गोव्यपदेशमभिप्रैति, न स्थितिक्षणेऽपि अतिप्रसङ्गात्, एवं सर्वत्रापि इति ।

अथ श्रीवादीदेवसूरिरचितग्रन्थेषु शब्दसमभिरूढैवंभूतनयानामेवं निरूपणं दृश्यते। तथाहि- कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः । यथा-बभूव भवति भविष्यति सुमेरुः इत्यादि । तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः, यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुः इत्यादयो भिन्नकालाः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति, भिन्नकालशब्दत्वात्, तादृक्सिद्धान्यशब्दवत्, इति ।

पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः, इन्दनादिन्द्रः, शकनाच्छक्रः, पूर्दारणात्पुरन्दरः; इत्यादि । पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभासः; यथा-इन्द्रः, शक्रः, पुरन्दरः, इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव भिन्नशब्दत्वात्, करिकुरङ्गतुरङ्गवत्; इत्यादि ।

शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविशिष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवम्भूतः । यथा-इन्दनमनुभवन्निन्द्रः, शकनक्रियापरिणतः शक्रः, पूर्दारणे प्रवृत्तः पुरन्दरः, इत्युच्यते ।

क्रियाऽनाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपंस्तदाभासः । यथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यम्, घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात् । इत्यादिदेवसूरिकृतग्रन्थः ।

पूर्वकृतनिरूपणाच्चैतन्निरूपणस्यैतेषां त्रयाणामपि नयानां नयाभासयुक्तत्वस्य पार्थक्येन दर्शनाद्विशेषः ।

ननु पूर्वनिरूपणे कथं नैते नयाभासाः पृथक् दर्शिताः ? इति **चेत्**; तत्रैतेषां नयानां शब्दविचारचतुरत्वेन विशेषतात्पर्याविवक्षयैवकारमात्रविहितविभेदास्त्रयोऽप्येते नयाभासा न प्रदर्शिता इति हार्दम् । एतेषु च नयेषु ऋजुसुत्रान्ताश्चत्वारोऽर्थ-प्रधानाः, शेषास्तु त्रयः शब्दप्रधानाः प्रत्येतव्याः ।

कः पुनरत्र बहुविषयो नयः ? को वाऽल्पविषयः ? कश्चात्र कारणभूतः कार्यभूतो वा ? इति **चेत्**, पूर्वः पूर्वो बहुविषयः कारणभूतश्च, परः परोऽल्पविषयः कार्यभूतश्च, इति ब्रूमः । सङ्ग्रहाद्धि नैगमो बहुविषयो भावविषयत्वात् यथा-सति संकल्पस्तथाऽसत्यपि । सङ्ग्रहस्तु ततोऽल्पविषयः सन्मात्रगोचरत्वात्, तत्पूर्वकत्वाच्च तत्कार्यम् ।

सङ्ग्रहाद् व्यवहारोऽपि, तत्पूर्वकः सद्विशेषावबोधकत्वात्, अल्पविषय एव ।

व्यवहारात्कालत्रितयवृत्त्यर्थगोचरात् ऋजुसुत्रोऽपि, तत्पूर्वको वर्तमानार्थगोचर-तयाऽल्पविषय एव ।

कालादिभेदेनाभिन्नार्थप्रतिपादकात् ऋजुसुत्रात्, तत्पूर्वकः शब्दनयोऽप्यल्पविषय एव तद्विपरीतार्थगोचरत्वात् ।

शब्दनयात् पर्यायभेदेनार्थभेदं प्रतिपद्यमानात् तद्विपर्ययात्तत्पूर्वकः समभि-रूढोऽप्यल्पविषय एव ।

समभिरूढतश्च क्रियाभेदेनाभिन्नमर्थं प्रतिपादयतस्तद्विपर्ययेण एवम्भूतोऽप्यल्प-विषय एव इति ।

नन्वेते नयाः किमेकस्मिन्विषयेऽविशेषेण प्रवर्त्तन्ते ? किंवा विशेषोऽस्ति ? इति **अत्रोच्यते**-यत्रोत्तरो नयोऽर्थांशे वर्त्तते, तत्र पूर्वः पूर्वोऽपि वर्त्तत एव । यथा-सहस्रेऽष्टशती, तस्यां वा पञ्चशती, इत्यादौ पूर्वसंख्या उत्तरसंख्यायामविरोधेन वर्तते । यत्र तु पूर्वः पूर्वो नयः प्रवर्त्तते, तत्र उत्तर उत्तरो नयो न प्रवर्त्तते, पञ्चशत्यादौ अष्टशत्यादिवत् । एवं नयार्थे प्रमाणस्यापि सर्वांशवस्तुवेदिनो वृत्तिरविरुद्धा । न तु प्रमाणार्थे नयानां वस्त्वंशमात्रवेदिनाम् इति ।

कथं पुनर्नयसप्तभङ्ग्याः प्रवृत्तिः ? इति **चेत्**; प्रतिपर्यायं वस्तुन्येकत्राविरोधेन विधेः प्रकल्पनया इति ब्रूमः ।

तथाहि-संकल्पमात्रग्राहिणो नैगमस्याश्रयणात् विधिकल्पना प्रस्थादिसंकल्पमात्रम्, 'प्रस्थादि स्यादस्ति' इति ।

सङ्ग्रहाश्रयणात्तु प्रतिषेधकल्पना, न प्रस्थादिसंकल्पमात्रम्; प्रस्थादिसन्मात्रस्य तथाप्रतीतेः, असतः प्रतीतिविरोधात् इति ।

व्यवहाराश्रयणाद्वा द्रव्यस्य पर्यायस्य वा प्रस्थादिप्रतीतिः, तद्विपरीतस्यासतो वा प्रत्येतुमशक्तेः ।

ऋजुसूत्रस्याश्रयणाद्वा पर्यायमात्रस्य प्रस्थादित्वेन प्रतीतिः, अन्यथा प्रतीत्यनुत्पत्तेः ।

शब्दाश्रयणाद्वा कालादिभिन्नस्यार्थस्य प्रस्थादित्वम्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् ।

समभिरूढाश्रयणाद्वा पर्यायभेदेन भिन्नस्यार्थस्य प्रस्थादित्वम्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् ।

एवम्भूताश्रयणाद्वा प्रस्थादिक्रियापरिणतस्यैवार्थस्य प्रस्थादित्वम्, नान्यस्य, अतिप्रसङ्गात्; इति ।

तथा 'स्यादुभयं' क्रमार्पितोभयनयाश्रयणात्, 'स्यादवक्तव्यम्' सहार्पितोभयनयाश्रयणात्, एवमवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गा यथायोगमुदाहार्याः । इयं हि वस्त्वंशमात्रग्राहित्वेन विकलादेशरूपा नयसप्तभङ्गी इति ।

एवमेते सप्तापि नयाः परस्परनिरपेक्षा अपि श्रीजिनशासने समुदिता भवन्ति, इति चतुर्थवृत्तार्थः ॥४॥

नन्वेते वस्त्वंशग्राहिणो भिन्नार्थगोचरा अपि नयाः कथमेकत्र समुदिता भवन्ति ? इति **चेत्**; प्रमाणसप्तभङ्ग्या इति ब्रूमः ।

ननु काऽसौ प्रमाणसप्तभङ्गी ? इत्याशंकाया**माह**-

यया विधिश्चापि निषेध एक-
स्मिन्साध्यतेऽर्थे युगपत्क्रमाच्च ।
सा सप्तभङ्गी जिनराजशासने
जयत्यनेकान्तविचारवर्द्धिनी ॥५॥

व्याख्या-'**एकस्मिन्**' वस्तुनि '**क्रमात्**' परिपाट्या विधिः साध्यते, '**चः**' पुनरर्थे '**निषेधः**' एकत्रैव कालाद्यभेदेऽपि निरुपकवचनभेदात् विधिसाधनान्तरं निषेधोऽपि साध्यत इत्यर्थः; '**युगपञ्च**' इति चकारस्य भिन्नक्रमत्वादेकस्मिन्नेव वस्तुनि सहैव निरूपणं निपुणवचनरचनया विधिनेषेधौ यया सप्तभङ्ग्या साध्येते इत्यर्थः ।

ननु यया प्रमाणसप्तभङ्ग्या क्रमयौगपद्याभ्यां विधिनिषेधौ साध्येते, सा सप्तभङ्गी सोदाहरणा सुव्यक्ता च निरुपणीया इति **चेत्**; निरुप्यते-

एकत्र जीवादौ वस्तुनि एकैकसत्त्वादिधर्मविषयप्रश्नवशादविरोधेन प्रत्यक्षादिबाधापरिहारेण पृथग्भूतयोः समुदितयोश्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दलाञ्छितो वक्ष्यमाणैः सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभङ्गी इति गीयते ।

तद्यथा-

स्यादस्त्येव सर्वम्, इति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः । स्यान्नास्त्येव सर्वम्, इति निषेधकल्पनया द्वितीयः । स्यादस्त्येव, स्यान्नास्त्येव, इति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीयः । स्यादवक्तव्यमेव, इति युगपद्विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः । स्यादस्त्येव, स्यादवक्तव्यमेव, इति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः । स्यान्नास्त्येव, स्यादवक्तव्यमेव, इति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः । स्यादस्त्येव, स्यान्नास्त्येव, स्यादवक्तव्यमेव, इति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तमः ।

तत्र 'स्यात्' कथञ्चित्स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेणास्त्येव सर्वं कुम्भादि, न पुनः परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण; तथाहि-कुम्भो द्रव्यतः पार्थिवत्वादिना स्वरूपेणास्ति, न जलत्वादिरूपेण; क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकत्वेन, न कान्यकुब्जादित्वेन; कालतः शैशिरत्वेन, न वासन्तिकादित्वेन; भावतः श्यामत्वेन, न रक्तत्वादिना; अन्यथा स्वरूपहानिप्रसङ्ग इति ।

अवधारणं चात्रभङ्गेऽनभिमतार्थव्यावृत्त्यर्थमुपात्तम्, इतरथाऽनभिहिततुल्यतैवास्य वाक्यस्य प्रसज्येत; प्रतिनियतस्वार्थानभिधानात्, तदुक्तम्-'**वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिष्पत्तये कर्त्तव्यम् अन्यथाऽनुक्तसमत्वात्तस्य कुत्रचित्**' । तथापि

'अस्त्येव कुम्भः' इत्येतावन्मात्रोपादाने कुम्भस्य स्तम्भाद्यस्तित्वेनापि सर्वप्रकारेणास्तित्वप्राप्तेः प्रतिनियतस्वरूपानुपपत्तिः स्यात्, तत्प्रतिपत्तये 'स्यात्' इति शब्दः प्रयुज्यते, स्यात्-कथञ्चित् स्वद्रव्यादिभिरेवायमस्ति, न परद्रव्यादिभिरपि, इत्यर्थः ।

यत्रापि चासौ न प्रयुज्यते, तत्रापि व्यवच्छेदफलैवकारवद् बुद्धिमद्भिः प्रतीयत एव । यदुक्तम्-

"सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात्प्रतीयते" यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजन इति ।

अयं भावार्थः-स्यात्पदेन हि स्वरूपेणास्तित्वायोगव्यवच्छेदः क्रियते, एवकारेण च पररूपेण नास्तित्वायोगव्यवच्छेदः क्रियते, इति प्रथमो भङ्गः ।

'स्यात्' कथञ्चित् 'नास्त्येव कुम्भादिः' स्वद्रव्यादिभिरिव परद्रव्यादिभिरपि, वस्तुनोऽसत्त्वानङ्गीकारे प्रतिनियतस्वरूपाभावाद्वस्तुप्रतिनियतिर्न स्यात् ।

न चास्तित्वैकान्तवादिभिरत्र नास्तित्वमसिद्धम्, इति वक्तव्यम् कथञ्चित्तस्य वस्तुनि युक्तिसिद्धत्वात्, साधनवत् । न हि क्वचिदनित्यत्वादौ साध्ये सत्त्वादिसाधनस्यास्तित्वं विपक्षे नास्तित्वमन्तरेणोपपन्नम्, तस्य साधनत्वाभावप्रसङ्गात्; तस्माद्वस्तुनोऽस्तित्वं नास्तित्वेनाविनाभूतम्, नास्तित्वं च तेन, इति विवक्षावशाद्वानयोः प्रधानोपसर्जनभावः ।

प्रथमभङ्गे हि विधेः प्राधान्येन निरूपणम्, प्रतिषेधस्य गौणत्वेन । द्वितीयभङ्गे तु प्रतिषेधस्य प्राधान्येन निरूपणम्, विधेस्तु गौणत्वेन; इत्यनयोर्विशेषः । एवमुत्तरभङ्गेष्वपि ज्ञेयम्, इति द्वितीयो भङ्गः ।

तृतीयः स्पष्ट एव द्वाभ्यामस्तित्वनास्तित्वधर्माभ्यां युगपत्प्रधानतयाऽर्पिताभ्यामेकस्य वस्तुनोऽभिधित्सायां तादृशस्य शब्दस्यासम्भवात्, अवक्तव्यं जीवादि वस्तु । तथाहि-सदसत्त्वगुणद्वयं युगपदेकत्र 'सत्' इत्यनेन वक्तुमशक्यम्, तस्यासत्त्वप्रतिपादनासमर्थत्वात्; तथा 'असत्' इत्यनेनापि, तस्य सत्त्वप्रत्यायनसामर्थ्याभावात्; न च पुष्पदन्तादिवत् सांकेतिकमेकपदं तद्वक्तुं समर्थम्, तस्यापि क्रमेणार्थद्वयप्रत्यायने सामर्थ्योपपत्तेः ।

एवं सकलवाचकरहितत्वादवक्तव्यं युगपत्सदसत्त्वाभ्यां प्रधानभावार्पिताभ्यामाक्रान्तं व्यवतिष्ठते, न च सर्वथाऽवक्तव्यम्, अवक्तव्यशब्देनाप्यनभिधेयत्वप्रसङ्गात्, इति चतुर्थः ।

शेषास्त्रयः सुगमाभिप्रायाः । इयं च सकलादेशापरपर्याया प्रमाणसप्तभङ्गी प्रमाणवाक्यैर्निरूपिता इति ।

ननु नयवाक्ये प्रमाणवाक्ये च कथं सप्तैव भङ्गाः सम्भवन्ति ? इति **चेत्;** प्रतिपाद्यप्रश्नानां तावतामेव सम्भवात्, प्रश्नवशादेव हि सप्तभङ्गीनियमः ।

सप्तविधप्रश्नोऽपि कुतः ? इति **चेत्;** सप्तविधजिज्ञासासंभवात् । सापि सप्तधा कुतः ? इति **चेत्;** सप्तधा संशयोत्पत्तेः । सोऽपि सप्तधा कथम् ? इति **चेत्;** तद्विषयवस्तुधर्मस्य सप्तविधत्वात् । तथाहि-

सत्त्वं तावद्वस्तुधर्मः, तदनभ्युपगमे वस्तुनो वस्तुत्वायोगात्, खरशृङ्गवत् । तथा, कथञ्चिदसत्त्वं तद्ध[द्वतध]र्म एव स्वरूपादिभिरिव पररूपादिभिरपि, अस्यासत्त्वानङ्गीकारे प्रतिनियतस्वरूपासंभवात् वस्तुप्रतिनियमविरोधः स्यात् । एतेन क्रमार्पितोभयत्वादीनां वस्तुधर्मत्वं प्रतिपादितं प्रतिपत्तव्यम् । तदभावे क्रमेण सदसत्त्वविकल्पशब्दव्यवहारविरोधात्, सहावक्तव्योपलक्षितोत्तरधर्मविकल्पत्रय [विकल्प] सत्त्वव्यवहारस्य चासत्त्वप्रसङ्गात् । न चामी व्यवहारा निर्विषया एव, वस्तुप्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तिनिश्चयात्, तथाविधरूपादिव्यवहारवत् ।

ननु प्रथमद्वितीयधर्मवत्प्रथमतृतीयादिधर्माणां क्रमेतरार्पितानां धर्मान्तरत्वसिद्धेर्न सप्तविधधर्मनियमः सिद्ध्येत् । **इत्यप्यसुन्दरम्**, क्रमार्पितयोः प्रथमतृतीयधर्मयोर्द्वयोर्धर्मान्तरत्वेनाप्रतीतेः सत्त्वद्वयस्यासम्भवात्, विवक्षितस्वरूपादिना सत्त्वस्यैकत्वात्, तदन्यस्वरूपादिना सत्त्वस्य द्वितीयस्य संभवे विशेषादेशात्, तत्प्रतिपक्षभूतासत्त्वस्याप्यपरस्य संभवात्, अपरधर्मसप्तकसिद्धेः सप्तभङ्ग्यन्तरसिद्धितो न कश्चिदुपालम्भः । एतेन द्वितीयतृतीयधर्मयोः क्रमार्पितयोर्धर्मान्तरत्वमप्रातीतिकं व्याख्यातम् ।

कथमेवं प्रथमचतुर्थयोर्द्वितीयचतुर्थयोश्च सहितयोर्धर्मान्तरत्वं स्यात् ? इति **चेत्;** चतुर्थे अवक्तव्यधर्मे सत्त्वासत्त्वयोरपरामर्शत्वात्, न खलु सहार्पितयोरवक्तव्य-

शब्देनाभिधानम् । किं तर्हि ? क्रमार्पितयोस्तयोः सर्वथा वक्तुमशक्यवक्तव्यत्वस्य धर्मान्तरस्य तेन प्रतिपादनमिष्यते; न च तेन सहितस्य सत्त्वस्योभयस्य वा प्रतीतिः, धर्मान्तरत्वसिद्धिर्वा ।

प्रथमभङ्गे सत्त्वस्य प्रधानभावेन प्रतीतेः, द्वितीये पुनरसत्त्वस्य, तृतीये क्रमार्पितयोः, चतुर्थे वक्तव्यत्वस्य, पञ्चमे सत्त्वसहितस्य, षष्ठे पुनरसत्त्वोपेतस्य, सप्तमे क्रमवत्तदुभययुक्तस्य सकलजनैः सुप्रतीतत्वात्; इति ।

ननु च वक्तव्यत्वस्य धर्मान्तरत्वे वस्तुनि वक्तव्यत्वस्याष्टमस्य धर्मान्तरस्य भावात् कथं सप्तविध एव धर्मः सप्तभङ्गीविषयः स्यात् ? **इत्यप्यपेशलम्**, सत्त्वादिभिरभिधीयमानतया वक्तव्यत्वस्य प्रसिद्धेः सामान्येन वक्तव्यत्वस्यापि विशेषेण वक्तव्यतायामवस्थानात् । भवतु वा, वक्तव्यत्वात्तयोर्धर्मयोः प्रसिद्धिः, तथापि आभ्यां विधिप्रतिषेधकल्पनाविषयाभ्यामिव सप्तभङ्ग्यन्तरस्य प्रवृत्तेर्न तद्विषयसप्तविध-धर्मनियमविघातः; यतः- तद्विषयः संशयः सप्तधैव न स्यात् । तद्धेतुजिज्ञासा वा, तन्निमित्तः प्रश्नो वा, वस्तुन्येकत्र सप्तविधवाक्यनियमहेतुः ।

इत्युपपन्नेयं प्रश्नवशादेकवस्तुन्यविरोधेन विधिनिषेधकल्पना सप्तभङ्गी । अविरोधेनाभिधानात् प्रत्यक्षादिविरुद्धविधिप्रतिषेधकल्पनायाः सप्तभङ्गीरूपता प्रत्युक्ता, एकवस्तुनीत्यभिधानाच्च अनेकवस्त्वाश्रयकल्पनायाः; इति ।

नन्वियं सप्तभङ्गी क्व भवति ? **इत्याह-'जिनराजशासने सा सप्तभङ्गी जयति'** इत्युत्तरार्द्धान्वयः । किं विशिष्टा ? **'अनेकान्तविचारवर्द्धिनी'**-स्याद्वादविचारवृद्धि-कारिणी, इत्यर्थः । अनया किल सप्तभङ्ग्या एकान्तवादनिरासपूर्वमनेकान्तवाद एवोद्दीप्तो भवति, एकस्मिन्नेव वस्तुनि कालाद्यभेदेन सत्त्वासत्त्वाद्यनेकधर्माणां प्रतिपादनात् ।

नन्वेवं घटादिरूपमेकं वस्तु 'सदसत्' इत्युक्तं भवति, तच्च नैव घटते; तथाहि-सत्त्वमसत्त्वपरिहारेण व्यवस्थितम्, असत्त्वमपि सत्त्वपरिहारेण, अन्यथा तयोरविशेषात् । ततश्च तद्यदि सत्, कथमसत् ? अथासत्, कथं सत् ? इत्येकत्र सदसत्त्वयोर्विरोधात् । तथा चोक्तम्-

यस्मात्सत्त्वमसत्त्वं च विरुद्धं हि मिथो द्वयम् ।
वस्त्वेकं सदसद्रूपं तस्मात्खलु न युज्यते ।।

किंच-सदसद्रूपं वस्त्वभ्युपगच्छता सत्त्वमसत्त्वं च वस्तुधर्मतयाऽभ्युपगतं भवति। ततश्चात्रापि वक्तव्यम् धर्मधर्मिणोः किं तावद्भेदः ? आहोस्विदभेदः ? आहोस्विद्भेदाभेदः ? इति ।

तत्र यदि तावद्भेदः, ततः सदसत्त्वयोर्भिन्नत्वात् कथमेकं सदसद्रूपम् ? इति। अथाभेदः, ततः सदसत्त्वयोरेकत्वम्, एकस्माद्धर्मिणो भिन्नत्वात्, तत्स्वरूपवत्। अतोऽपि कथमेकं सदसद्रूपम् ? इति ।

धर्मिणो वा भेदः, सदसत्त्वयोरभिन्नत्वात्, स्वात्मवत् । इत्थमपि कथमेक मुभयरूपम् ?। अथ भेदाभेदः, अत्रापि येनाकारेण भेदः, तेन भेद एव ? येन चाभेदः, तेनाभेद एव ? तदेवमपि नैकमुभयरूपम् ।

अथ येनैवाकारेण भेदः, तेनैवाभेदः ? येनैव चाभेदः, तेनैव भेदः ? इति। **एतदप्यचारु**, विरोधात् ।

यदि येनाकारेण भेदः, कथं तेनैवाभेदः ? अथाभेद कथं भेदः ? इति ।

अथ येनाप्याकारेण भेदः, तेनापि भेदश्चाभेदश्च; इत्युभयम् ? येनापि चाभेदः, तेनाप्यभेदश्च भेदश्च; इत्युभयमेव ? । अत्रापि येनाकारेण भेद; तेन भेद एव; येन चाभेदः, तेनाभेद एव; इति तदेवावर्तते ।

किंच-भेदाभेदमभ्युपगच्छताऽवश्यमेवेदमङ्गीकर्त्तव्यम्-इह धर्मधर्मिणो-धर्मधर्मितया भेदः। स्वभावतोऽपि हि तयोर्भेदेऽङ्गीक्रियमाणे परस्परतः प्रविभक्तरूपं पदार्थद्वयमेवाङ्गीकृतं स्यात्, न पुनरेकं द्विरूपम्; इति ।

तदत्रापि निरूप्यते-न ह्यनासादितस्वभावभेदयोर्धर्मधर्मिणोर्धर्मधर्मितयापि भेदो युज्यते; तथाहि-यदि यो धर्मस्य स्वभावः, स एव धर्मिणोऽपि; एवं सत्यसौ धर्मी धर्म एव स्यात्, तत्स्वभावत्वात्, धर्मस्वरूपवत् ।

धर्मोऽपि धर्मिमात्रमेव स्यात्, इति ? ततश्चैवं धर्मधर्मिणौ स्वभावभेदानासाद-नेनाप्रतिलब्धभेदौ कथं भवतः ? इति । न च स्वभावतोऽपि तयोर्भेदाभेदकल्पना युक्ता, पूर्वदोषानतिवृत्तेः ।

किं च-'संविन्निष्ठाश्च विषयव्यवस्थितयः' न च सदसद्रूपं वस्तु संवेद्यते,

उभयरूपस्य संवेदनस्याभावात्; तथाहि-नाक्षजे विज्ञाने सदसत्त्वे प्रतिभासेते, असत्त्वस्यारूपत्वात्, रूपत्वे चासत्त्वविरोधात्, तथाऽनुभवाभावाच्च ।

न च कार्यान्तरेणापि सदसद्रूपं वस्तु प्रतिपत्तुं शक्यते, यतो नोभयरूपं कार्यमुपलभ्यते । न च तत्कार्यकरणे प्रवर्तमानं केनचिदाकारेण करोति, केनचिन्न करोति; एकस्य करणाकरणविरोधात् । सर्वात्मना च करणे तद्भावरूपमेव स्यात्; तथाहि-नाभावः कस्यचिदपि कारणं भवितुमर्हति, अभावत्वविरोधात् तत्कारणत्वे च विश्वमदरिद्रं स्यात्, तत एव कटककुण्डलाद्युत्पत्तेः । अतः श्रद्धागम्यमेवेदं 'सदसद्रूपं वस्तु' इति ।

एतेन नित्यानित्यमपि प्रत्युक्तमेवावगन्तव्यम्, विरोधादेव-तथाहि - अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं नित्यमाख्यायते । प्रकृत्यैकक्षणस्थितिधर्मकं चानित्यम्, इति । ततश्च तद्यदि नित्यम् कथमनित्यम् ? अनित्यम् चेत्, कथं नित्यम् ? इति ।

ननु नहि कूटस्थनित्यतया नित्यं द्रव्यमभ्युपगम्यतेऽस्माभिः, किन्तु पूर्वोत्तरक्षणविभागेन प्रबन्धवृत्त्या । नहि पर्यायाणामिव द्रव्यस्याप्युच्छेदः, तद्रूपेण तथा प्रतीतेः । पर्याया एव हि पर्यायरूपेण विरुध्यन्ते ।

ननु 'द्रव्यम्' इति नित्यमभ्युपगम्यते, इति **चेत्;** तदयुक्तम्, यस्मादेषाऽत्र नित्यता न सम्भवति, पर्यायव्यतिरिक्तस्य द्रव्यस्यासिद्धेः; तथाहि-न पर्यायव्यतिरिक्तं द्रव्यमस्ति, तथाऽनुभवाभावात् । व्यतिरिक्तभावे त्वेकरूपैकवस्तुवादहानिप्रसङ्गः । व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तपक्षस्तु विरोधाघ्रातत्वादनुद्घोष्यः, इति ।

एतेन सामान्यविशेषरूपमपि प्रतिक्षिप्तमवगन्तव्यम्; तथाहि-एकं सामान्यम्, अनेके विशेषाः; तथा निरवयवं सामान्यम्, सावयवा विशेषाः; तथाऽक्रियं सामान्यम्, सक्रिया विशेषाः, तथा सर्वगतं सामान्यम्, असर्वगता विशेषाः ।। ततश्च-तद्यदि सामान्यरूपम्, कथं विशेषरूपम् ? चेद्विशेषरूपम्, कथं सामान्यरूपम् ? इति ।

किंच-सामान्योभयविशेषरूपत्वे सति वस्तुनः सकललोकव्यवहारप्रसिद्धसंव्यवहारनियमोच्छेदप्रसङ्गः; तथाहि-विषमोदकादिव्यक्त्याभिन्नमनानास्व-

भावमेकं सामान्यं वर्त्तते; ततश्च न विषं विषमेव, मोदकाद्यभिन्नसामान्याव्यतिरेकात् । नापि मोदको मोदक एव, विषाभिन्नसामान्याभेदात् । किं तर्हि ? उभयमपि उभयरूपम् । ततश्च विषार्थी विषे प्रवर्तते, मोदके च; एवं मोदकार्थ्यपि मोदके, विषे च । लोकस्तु विषार्थी विष एव प्रवर्त्तते, न मोदके; मोदकार्थ्यपि मोदक एव, न तु विषे; इत्यस्य नियमस्योच्छेदः स्यात् । तथा च-विषे भक्षितेऽपि मोदको भक्षितः स्यात्, मोदके भक्षिते विषं भक्षितं स्यात् । तथा च सति प्रतीतिविरोधः स्यात् ।

ननु विषादिषु विशेषरूपताऽप्यस्त्येव, सा तदर्थिनो नियमेन प्रवृत्तेर्बीजम्, तद्भक्षणे नान्यभक्षणं स्यात् । **एतदयुक्तम्,** विकल्पानुपपत्तेः; तथाहि-विषविशेषरूपता मोदकादिविशेषरूपव्यावृत्ता वा स्यात् ? तत्स्वरूपनियता वा ? न तावन्मोदकादिविशेषरूपव्यावृत्ता, तदनर्थान्तरभूतसामान्यव्यतिरेकात् । व्यतिरेके चोभयरूप-वस्तुवादहानिप्रसङ्गात् । व्यतिरेकाव्यतिरेकपक्षस्य चाविरोधेन तिरस्कृतत्वात् । नापि स्वरूपनियता, मोदकाद्यभिन्नसामान्यानर्थान्तरत्वात् । अर्थान्तरत्वे च सैव विशेषरूपता अर्थक्रियार्थिप्रवृत्तिविषयत्वात् वस्त्वस्तु; तत्फलविशेषोपादानभावलक्षितस्वभावत्वाद्वस्तुनः । सा च तादृशी नान्यत्रास्ति, अर्थिनः प्रवृत्त्यभावात् । तत्त्यज्यतामुभयरूपैकवस्तुवादाभिमानः ।। एवमभिलाप्यमपि विरोधबाधितत्वादेवानुद्घोष्यम्; तथाहि-अभिलप्यते यत्तदभिलाप्यम्, अनभिलाप्यं चेत्; न तर्ह्यभिलाप्यम्, इति, एकस्यानेकविरुद्ध-धर्मानुगमाभावात् ।

किंच-विरुद्धधर्माध्यासितस्वरूपत्वात् वस्तुनोऽनेकान्तवादिनो मुक्त्यभाव-प्रसङ्गः; तथाहि- एतदात्माङ्गनाभवनमणिकनकधनधान्यादिकम्, अनात्मकम्, अनित्यम्, अशुचि, दुःखम्, इति कथञ्चिद्विज्ञाय भावतस्तथैव भावयतः, वस्तुतस्तत्राभिष्वङ्गास्पदाभावाद्, भावनाप्रकर्षविशेषतः वैराग्यमुपजायते; ततो मुक्तिः । यदा तु तदात्माऽङ्गनादिकं सात्मकाद्यपि, तदा यथोक्तभावनाऽभावात्, भावेऽपि मिथ्यात्वरूपत्वात्, वैराग्याभावः, तदभावाच्च मुक्त्यभावः, इति ।।

तदेवमेते मन्दमतयो दुस्तर्कोपहतास्तीर्थ्याः स्वयं नष्टाः परानपि मन्दमतीन्ना-शयन्ति, इति प्रतिविधीयते ।

तत्र यत्तावदुक्तम्-"कथमेकमेव घटादिरूपं वस्तु सच्चासच्च भवति," तदेतदाबालगोपालाङ्गनादिप्रतीतमनाशङ्कनीयमेव; यतः तत्स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण सद्वर्तते, परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण चासत्; ततश्च सच्चासच्च भवति; अन्यथा तदभावप्रसङ्गात्; तथाहि-यदि तद्यथा स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण सद्वर्त्तते, तथैव परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेणापि स्यात्; ततश्च तद्धटवस्त्वेव न स्यात्; परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेणासत्त्वे सति स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेणाप्यसत्त्वात्, खरविषाणादिवत्; इत्येवं तदभावप्रसङ्गात्- सदभावप्रसङ्गात् सद्सद्रूपं तदङ्गीकर्तव्यम्, इति ।

तथा च-द्रव्यतः-पार्थिवत्वेन सत्, नाबादित्वेन; क्षेत्रतः- इहत्यत्वेन, न पाटलिपुत्रकादित्वेन; तथा कालतः-घटकालत्वेन; न मृत्पिण्डकपालकालत्वेन; तथा भावतः-श्यामत्वेन, न रक्तत्वादिना, इति । अन्यथेतररूपापत्त्या तत्त्वस्वरूपहानिप्रसङ्गः, इति ।

अत्र बौद्धः प्राह-नन्वेतत्स्वद्रव्यसत्त्वमेव परद्रव्यासत्त्वम्, एवं स्वक्षेत्रसत्त्वमेव परक्षेत्रासत्त्वम्, एवं स्वकालसत्त्वमेव परकालासत्त्वम्, एवं स्वभावसत्त्वमेव परभावासत्त्वम्, इति । तथा च-घटवस्तुनः पार्थिवद्रव्यसत्त्वमेव अबादिद्रव्यासत्त्वम्, तथेहक्षेत्रसत्त्वमेव पाटलिपुत्राद्यसत्त्वम्, तथा घटकालसत्त्वमेव मृत्पिण्डकपालकालासत्त्वम्, तथा श्यामत्वसत्त्वमेव रक्तत्वाद्यसत्त्वम्, इति ।

एतदप्यसारम्, तस्यैकस्वभावत्वेऽवस्तुत्वप्रसङ्गात्; तथाहि-यदि पार्थिवद्रव्यसत्त्वमेव, अबादिद्रव्यासत्त्वम्, एवं तर्हि यथा तत्पार्थिवद्रव्यत्वेन सत्, एवमबादिद्रव्यत्वेनापि सदेव स्यात्; तत्सत्त्वाव्यतिरिक्तत्वादितरासत्त्वस्य; यथाऽबादि द्रव्यत्वेनासत्, तथा पार्थिवद्रव्यत्वेनापि असदेव स्यात्, तदसत्त्वाव्यतिरिक्तत्वात्तत्सत्त्वस्य । एवं यदि इहक्षेत्रसत्त्वमेव, पाटलिपुत्राद्यसत्त्वम्, ततश्च तद्यथेह सत्, तथा पाटलिपुत्रकादावपि स्यात्, इह सत्त्वाव्यतिरिक्तत्वात्तत्रासत्त्वस्य; यथा वा पाटलिपुत्रादावसत्, तथेहापि, तदसत्त्वाव्यतिरिक्तत्वादिहसत्त्वस्य । एवं यदि घटकालसत्त्वमेव, मृत्पिण्डकपालकालासत्त्वम्, ततश्च तद्यथा घटकाले सद्, एवं मृत्पिण्डकपालकालेऽपि स्यात्, तत्सत्त्वाव्यतिरिक्तत्वात्, तदसत्त्वस्य; यथा वा मृत्पिण्डकपालकालेऽसत्, तथा घटकालेऽपि स्यात्, तदसत्त्वाव्यतिरिक्तत्वात्

तत्सत्त्वस्य । एवं यदि श्यामत्वसत्त्वमेव, रक्तत्वाद्यसत्त्वम्, ततश्च तद्यथा श्यामत्वेन सत्, एवं रक्तत्वादिनाऽपि स्यात्, तदसत्त्वाव्यतिरिक्तत्वादितरासत्त्वस्य; यथा वा रक्तत्वादिनाऽसत्, तथा श्यामत्वेनापि स्यात्, तदसत्त्वाव्यतिरिक्तत्वात्तत्सत्त्वस्य ।

ततश्च तदितररूपापत्त्यादिनाऽवस्तुत्वप्रसङ्गः, इत्यलं स्वदर्शनानुरागाकृष्टचेतसा सह प्रसङ्गेन इति ।

ततश्चैवं न सर्वथा सत्त्वमसत्त्वपरिहारेण व्यवस्थितम्, न चासत्वं सत्त्वपरिहारेण ।

न चानयोरविशेष एव, भिन्ननिमित्तत्वात्; तथाहि-स्वद्रव्यादिरूपेण सत्, परद्रव्यादिरूपेण चासत्, इत्युक्तम्; ततश्चैवं सदसद्रूपं वस्त्वङ्गीकर्त्तव्यमेव ।

यदप्युक्तम्-"सदसद्रूपं वस्त्वभ्युपगच्छता सत्त्वमसत्त्वं च वस्तुधर्मतयाऽभ्युपगतं भवति," एतदिष्यत एव ।

यत्पुनरिदमुक्तम्-"ततश्चात्रापि वक्तव्यम्-धर्मधर्मिणोः किं तावद्भेदः ?" इत्यादि, अत्रापि सर्वथा भेदपक्षोदितोऽभेदपक्षोदितश्च दोषोऽनभ्युपगमतिरस्कृतत्वादेव न नः क्षतिमावहति । भेदाभेदपक्षस्त्वभ्युपगम्यत एव ।

नन्वत्रापि "येन प्रकारेण भेदः, तेन भेद एव ?" इत्यादिदूषणमुक्तम्, इति **चेत्**; न, अधिकृतविकल्पस्यार्थापरिज्ञानात्, अन्योऽन्यव्याप्तिभावेन भेदाभेदपक्षस्य जात्यन्तरात्मकत्वात्केवलभेदानुपपत्तेः । न ह्यन्योऽन्यानुविद्धौ इति जैनमतम्, अभेदाननुविद्धस्य केवलभेदस्यासिद्धेः, भेदाननुविद्धस्य चाभेदस्यासिद्धेः; अतो येनाकारेण भेदस्तेन भेद एव, इत्यर्थशून्यमेव ।

अथ 'धर्मधर्मिणोर्भेदाभेदः' इति कोऽर्थः ? कथञ्चिद्भेदः, कथञ्चिदभेदः, इति । तत्र धर्माणां मिथो भेदात्प्रतिनियतधर्म्याश्रितत्वाच्च कथञ्चिद्भेदः, । तथाहि-न धर्माणां धर्मिणा सर्वथैकत्वे धर्मतयापि भेदो युज्यते, इति प्रतीतमेतत् । तथा धर्माणामेवाभ्यन्तरीकृतधर्मिस्वरूपत्वाद्धर्मिणोऽपि चाभ्यन्तरीकृतधर्मस्वरूपत्वाच्च कथञ्चिदभेदः, इति । न चात्यन्तभेदे धर्मधर्मिकल्पना युज्यते, अतिप्रसङ्गात् ।

ननूत्प्रेक्षितेयं धर्मधर्मिकल्पना, न तत्त्वतः, इति । **एतदप्ययुक्तम्,** दृष्टविरोधात् । न च दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, अनुवृत्तव्यावृत्तस्वभावं च, तदेकस्वभाव एवासावनुभवो

घटप्रतिच्छायतयोपजायमानः पटादिप्रतिभासव्यवच्छेदेन ख्याप्यते । न पुनरस्य भावतो द्वे रूपे, इति **चेत्**; नैतद्युक्तम्, विहितोत्तरत्वात् 'तत्स्वरूपसत्त्वमेव परस्वरूपासत्त्वम्' इति निर्लोठितम् ।

किञ्च-एकान्तपर्यायनयमतानुसारिपक्षे कल्पनायोगात्; तथा हि-कल्पना वस्तुनि समुत्पन्ने वा स्यात् ? अनुत्पन्ने वा ? न तावदनुत्पन्ने, तस्यैवासत्त्वात्; उत्पन्नेऽपि गृहीते वा स्याद् ? अगृहीते वा ? न तावदगृहीते अतिप्रसङ्गात्; गृहीतेऽपि च तद्ग्राहकस्य ज्ञानस्याविकल्पकत्वात्, विकल्पज्ञानस्य चातद्विषयत्वात्, भावकाले च तदसत्त्वात् । तत्रैव कल्पना, इति **चेत्**; न, विकल्पानुपपत्तेः; तथाहि- तत्राप्युत्पन्ने वा स्याद् ? अनुत्पन्ने वा ? नानुत्पन्ने असत्त्वात्; नाप्युत्पन्ने, उत्पत्त्यनन्तराविनाशित्वात् । विकल्पनारूपमेवोत्पद्यते, इति **चेत्**; न, तस्य हेत्वयोगात् । हेत्वयोगश्च स्वलक्षणादनुत्पत्तेः । स्वलक्षणानुभवाहितसंस्कारात्तज्जन्म, इति **चेत्**; न, संस्कारस्यापि स्वलक्षणेतररूपानतिक्रमात्, इति ।

यच्चोक्तम्-'भेदाभेदमभ्युपगच्छताऽवश्यं चेदमङ्गीकर्तव्यम्,-इह धर्मधर्मिणोर्धर्मधर्मितया भेदः, स्वभावतः पुनरभेदः, इत्यादि" एतदपि "धर्माणां मिथो भेदात्प्रतिनियतधर्म्याश्रितत्वाच्च कथञ्चिद्भेदः" इत्यादिना प्रत्युक्तम्, प्रकारान्तरेण भेदाभेदासिद्धेः ।

यदप्युक्तम्-"संविन्निष्ठाश्च विषयव्यवस्थितयः, न च सदसद्रूपं वस्तु संवेद्यते, उभयरुपस्य संवेदनस्याभावात्," इत्यादि । एतदपि "अनुवृत्तव्यावृत्तस्वभावं वस्त्वध्यक्षतोऽवसीयते" इत्यादिना परिहृतम्, उभयरूपस्य संवेदनस्याबाधितत्वात् ।

यच्चोक्तम्-"न च कार्यद्वारेणापि सदसद्रूपं वस्तु प्रतिपत्तुं शक्यते, यतो नोभयरूपं कार्यमुत्पद्यते," इत्यादि । एतदप्यनवकाशम्, वस्तुस्थित्योभयरूपस्योपलम्भस्य साधितत्वात् । "न च तत्कार्यकरणे प्रवर्तमानं केनचिदाकारेण करोति, केनचिन्न करोति, एकस्य करणाकरणविरोधात्," इत्याद्यप्यसारम्, विरोधासिद्धेः; तथाहि-पर्यायात्मना करोति, द्रव्यात्मना न करोति, इति; कुत एकस्य करणाकरणविरोधः ? इति । अथवा स्वकार्यकर्तृत्वेन करोति, कार्यान्तराकर्तृत्वेन न करोति, अतः केनचिदाकारेण करोति, केनचिन्न करोति, कोऽत्र विरोधः ? इति । तस्माद् व्यवस्थितमेतत् 'सदसद्रूपं वस्तु' इति ।

एतेन "नित्यानित्यमपि प्रत्युक्तमवगन्तव्यम्" इत्यादि यदुक्तम्, **तदप्यनुपपन्नम्,** प्रमाणतस्तदवगमात्; तथाहि-नित्यानित्यमेव तदवगम्यते, अन्यथा तदवगमाभाव-प्रसङ्गात्; तथाहि-यदि तदप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं सर्वथा नित्यमभ्युपगम्यते, एवं तर्हि तद्विज्ञानजननस्वभावं वा स्यात् ? अजननस्वभावं वा ? यद्याद्यपक्षः, एवं सति सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां तद्विज्ञानप्रसङ्गः, तस्यैकस्वभावत्वात्, न चैतदेवम्, क्वचित्कदाचित्कस्यचिदेव तद्विज्ञानभावात् । न चैकस्वभावस्य देशादिकृतो विशेषः इति कल्पना युज्यते, तद्भावेऽनित्यत्वप्रसङ्गात् । सहकारिणमपेक्ष्य जनयति, इति **चेत्;** न, एकान्तनित्यस्यापेक्षायोगात्; तथाहि-'सहकारिणा तस्य कश्चिद्विशेषः क्रियते' इति वक्तुं तावदशक्यम्, यदि क्रियते स किमर्थान्तरभूतोऽनर्थान्तरभूतो वा ? यद्यर्थान्तरभूतस्तर्हि तस्य किमायातम् ? स तस्य विशेषकारकः इति **चेत्;** अनवस्थाप्रसङ्गः; तथाहि स विशेषस्ततो भिन्नोऽभिन्नो वा ? इति प्रश्नावकाशात्तदेवा-वर्त्तते, इत्यनवस्था ।

अथानर्थान्तरभूतः, स विद्यमानः ? अविद्यमानो वा ? यदि विद्यमानः, कथं क्रियते ? करणे वाऽनवस्थाप्रसङ्गः ।

अथाविद्यमानः, व्याहतमेतत्; स ततोऽर्थान्तरभूतोऽविद्यमानश्चेति, करणे चानित्यत्वापत्तिरिति; तथाहि- तस्मिन्क्रियमाणे पदार्थ एव कृतः स्यात्, तदव्यतिरिक्तत्वात्तस्य । अथ, मा भूदेष दोषः, 'न क्रियते' इत्याश्रीयते । न तर्हि स तस्य सहकारी , तस्याकिञ्चित्करत्वात् । भावे वाऽतिप्रसङ्गः इति; तथाहि-यदि कंचन विशेषमकुर्वन्नपि स तस्य सहकार्यभ्युपगम्यते, सर्वभावानामेव तत्सहकारित्वप्रसङ्गः, तद्विशेषाकरणेनाविशेषात्, इति ।

व्यर्था सहकारिकल्पना, इति **चेत्;** न, एवंभूत एव तस्य वस्तुनः स्वभावः, येनाविशेषकारकमपि प्रतिनियतं सहकारिणमपेक्ष्य कार्यं जनयति, इति ।

एतदपि मनोरथमात्रम्-विकल्पानुपपत्तेः, तद्धि यदाऽभीष्टसहकारिसन्निधौ कार्यं जनयति, तदाऽस्यानन्तरोदितसहकार्यपेक्षालक्षणस्वभावो व्यावर्तते न वा ? इति वक्तव्यम्; यदि व्यावर्त्तते, अनित्यत्वप्रसङ्गः, स्वभावव्यावृत्तौ स्वभाववतोऽपि तदव्यतिरेकेण तद्वदेव निवृत्तेः । अथ न व्यावर्त्तते, तर्हि कार्याजननप्रसङ्गः तत्स्वभावानिवृत्तेः, तथाहि-य एव तस्य कार्यजननावस्थायां स्वभावः, अजननावस्थायामपि स एव, इति कथं जनयति ? सर्वदा वा जननप्रसङ्गः,

इत्येवं तावदेकान्तनित्यपक्षे विज्ञानादिकार्यायोगात् तदवगमाभावः, इति ।

नित्यानित्यं पुनः कथञ्चिदवस्थिततत्वात् अनेकस्वभावत्वाज्जनयति [1]विज्ञानादिकम्, इति अतोऽवगम्यते, इति ।

नित्यानित्यत्वं च वस्तुनो द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वादनुवृत्तव्यावृत्ताकारसंवेदन-ग्राह्यत्वात्प्रत्यक्षसिद्धमेवः तथाहि-मृत्पिण्डशिवकस्थासकघटकपालादिष्वविशेषेण सर्वत्रानुवृत्तो मृदन्वयः संवेद्यते, प्रतिभेदं च पर्यायव्यावृत्तिः; तथा च-न यथाप्रतिभासं मृत्पिण्डे संवेदनम्, तथाप्रतिभासमेव शिवकादिषु, आकारभेदाद् । न च यथाप्रति-भासभेदं तद्विजातीयेषूदकदहन-पवनादिषु, तथाप्रतिभासभेदमेव शिवकादिषु, मृदन्वयानुभवात् । न चास्य स्वसंवेद्यस्यापि संवेदनस्यापह्नवः कर्तुं युज्यते प्रतीतिविरोधात् । न च निराकारमेव संवेदनम्, अर्थान्तरस्येव ततो विवक्षितार्था-परिच्छेदात् । न ह्यर्थाकारानुभवव्यतिरेकेणापरोऽर्थपरिच्छेदः, अतिप्रसङ्गात्, सर्वस्य सर्वार्थपरिच्छेतृत्वापत्तेश्च ।

न चेदं संवेदनं भ्रान्तम् इति शक्यते वक्तुम्, देशकालनरावस्थान्तरेऽविशेषेण प्रवृत्तेः; तथाहि- देशान्तरे कालान्तरे नरान्तरेऽवस्थान्तरे च मृत्पिण्डादिषु च यथोक्तलक्षणमेव संवेदनं प्रवर्तते, न चार्थप्रभवमविसंवादिसंवेदनं विहाय जातिविकल्पेभ्यः पदार्थव्यवस्था युज्यते; प्रतीतिबाधितत्वेन तेषामनादेयत्वात् । न चैकान्तनित्येषु यथोक्तसंवेदनसम्भवः, व्यावृत्ताकारनिबन्धस्य पर्यायभेदस्याभावात्, अन्यथैकान्तनित्यत्वानुपपत्तेः ।

तथैकान्तनश्वरेष्वपि नाधिकृतसंवेदनभावो युज्यते, अनुवृत्ताकारनिबन्धनस्य द्रव्यस्यान्वयाभावात् । तस्माद्यत एव नित्यम्, अत एवानित्यम्; द्रव्यात्मना नित्यत्वात्, तस्य चाभ्यन्तरीकृतपर्यायत्वात् । यत एव चानित्यमत एव नित्यम्, पर्यायात्मनाऽनित्यत्वात्, तस्य चाभ्यन्तरीकृतद्रव्यत्वात्, उभयरूपस्य चानुभव-सिद्धत्वात्, एकान्तभिन्नस्य चोभयस्याभावात् । उक्तं च-

द्रव्यं पर्यायवियुतं पर्याया द्रव्यवर्जिताः ।
क्व कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा ।। इत्यादि ।

---

१. अत्रानेकान्तवादजयपताकादौ मूलग्रन्थे वाणारस्यां मुद्रिते कथञ्चित्पाठभेदः चिन्त्यश्च धीधनैः ।

ननु पर्यायनिवृत्तौ द्रव्यनिवृत्तिर्भवति किम् वा न ? इति । यदि भवति, अनित्यमेव तत्, निवृत्तिमत्त्वात्, पर्यायस्वात्मवत् । अथ न भवति, हन्त तर्हि द्रव्यपर्याययोर्भेदप्रसङ्गः; तथाहि- पर्यायेभ्योऽन्यद् द्रव्यम्, तन्निवृत्तावपि तस्यानिवृत्तेः, पटादिव घटः, इति ।

एतदप्ययुक्तम्, कथञ्चिन्निवृत्तिभावात्, अस्य चानुभवसिद्धत्वात्; तथाहि- घटपर्यायनिवृत्तौ कपालकालेऽपि तद्बुद्ध्या मृदनुभूयत एव, तदेकान्तनिवृत्तौ चोर्ध्वपर्यायवन्नानुभूयते । ऊर्ध्वादिनिवृत्तित एव भेदसिद्धिः; इति **चेत्;** न, ऊर्ध्वादेरपि मृदः सर्वथा भेदासिद्धेः । न चासौ कपालमृद् घटमृदस्सर्वथाऽन्यैव, तदत्यन्तभेदे तस्या अमृत्त्वप्रसङ्गात्; यथा-उदकं न मृत्, ततोऽत्यन्तभेदात्, एवमसावपि स्याद्, अविशेषात्, इति ।

नन्वेतदमृत्स्वभावेभ्यो व्यावृत्तत्वात्कपालपदार्थस्य मृत्स्वभावता, नोदकस्य, तेभ्यो व्यावृत्त्यभावात्, इति ।

एतदप्यसमीक्षिताभिधानम्, वस्तुनो विजातीयेतरव्यावृत्ताव्यावृत्तोभय-स्वभावापत्तेः; तथाहि-अमृत्स्वभावेभ्य एवोदकादिभ्यो व्यावृत्तस्वभावः एवं सति कपालपदार्थः स्यात्, न तु मृत्पिण्डशिवकघटादिभ्यो मृत्स्वभावेभ्योऽपि, तद्व्यावृत्तावमृत्स्वभावत्वप्रसङ्गात् । यथैवाऽमृत्स्वभावेभ्यो व्यावृत्तः सन्मृत्स्वभावो भवति, एवं मृत्स्वभावेभ्योऽपि व्यावृत्तोऽमृत्स्वभावः स्यात्, न्यायानुमतमेतत् । अन्यथाऽमृत्स्वभावव्यावृत्तावपि मृत्स्वभावत्वानुपपत्तेः ।

स्यादेतद्-वस्तुतः सजातीयेतरव्यावृत्तस्वरूपत्वात्, प्रतिनियतैकस्वभावत्वात्, सर्वभावानां यथोक्तदोषाभावः; तथाहि-यथाऽसौ कपालभाव उदकादिभ्यो व्यावृतः सन् मृत्स्वभावः, एवं घटादिभ्योऽपि, तस्यैकस्वभावत्वात्, तेनैव रूपेण व्यावृत्तत्वात्, इति ।

एतदप्ययुक्तम्-अनुभवविरुद्धत्वात्; तथाहि-यदि स येनैव स्वभावेनामृत्स्व-भावेभ्यो व्यावृत्तः, तेनैव मृत्स्वभावेभ्योऽपि, हन्त तर्हि-यथैवामृत्स्वभावभावैकान्त-विभिन्नावभासहेतुः, तथैव मृत्स्वभावापेक्षयाऽपि स्यात्; न च भवति, मृत्स्वभावस्यानु-

भूयमानत्वात्, तस्यैव तथा परिणतिदर्शनात् । अनुभवस्य चापह्नोतुमशक्यत्वात्, 'अनुभवप्रमाणकाश्च सन्तोऽर्थाधिगमे' इति । प्रतिनियतैकस्वभावानुभवनिबन्धना-भ्युपगमे च पर्यायतः समानपरिणाम एवाभ्युपगत इति, न काचिन्नो बाधा । इत्यलं विस्तरेण ।

तथैकान्तानिवृत्तौ [सत्यां] तद्विलक्षणबुद्ध्यभाव एव, इति न स्यात्कपाल-बुद्धिः, विशेषाभावात्, तस्याप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वात्, इति । एतेन स्यादारेका-"नहि कूटस्थनित्यतया" इत्यादि यदाशङ्क्योक्तम्-"पर्यायव्यतिरिक्तस्य द्रव्यस्यासिद्धेः" इत्यादि' तदपि प्रतिक्षिप्तमेवावगन्तव्यम्, कथञ्चिद्व्यतिरेकसिद्धेः, इति ।। तथा चोक्तम्-

द्रव्यपर्याययोः सिद्धो भेदाभेदः प्रमाणतः ।
संवेदनं यतः सर्वमन्वयव्यतिरेकवत् ।।१।।

यच्चोक्तम्-"एतेन सामान्यविशेषरूपमपि प्रतिक्षिप्तमवगन्तव्यम्" इत्यादि, तदप्ययुक्तम्- सामान्यविशेषरूपस्य वस्तुनोऽनुभवसिद्धंत्वात्; तथाहि-'घटो घटः' इति सामान्याकारा बुद्धिरुत्पद्यते, मार्त्तिकः, ताम्र, राजतः, इति विशेषाकारा च पटादिर्वा न भवति, इति ।

न चार्थसद्भावोऽर्थसद्भावादेव निश्चीयते, सर्वसत्त्वानां सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्, सर्वार्थानामेव सद्भावस्याविशेषात् । किं तर्हि ? अर्थविज्ञानसद्भावान्निश्चयः । ज्ञानं च सामान्यविशेषाकारमेवोपजायते, इति । अतोऽनुभवसिद्धत्वात् सामान्यविशेषरूपं वस्तु, इति ।।

न चायमनुभवो भ्रान्त इति युज्यते, घटादिसन्निधावविकलतदन्यकारणानां सर्वेषामेवाविशेषेणोपजायमानत्वात्, इति सिद्धं सर्वं वस्तु सामान्यविशेषात्मकम् इति ।

यच्चोक्तम्-"एकं सामान्यमनेके विशेषाः" इत्यादि । **तदप्ययुक्तम्**; अनभ्युपगमात् । न हि यथोक्तस्वभावं सामान्यमभ्युपगम्यतेऽस्माभिः, युक्तिरहितत्वात् । किन्त्वनेकधर्मात्मकस्य वस्तुनः समानपरिणामः सामान्यम्, इति; समानानां भावः सामान्यम्, इत्यन्वर्थयोगात् । समानत्वं च भेदाविनाभाव्येव । तदभावे च सर्वथैकत्वतः

समानत्वानुपपत्तिः इति । समानपरिणाम एव समानबुद्धिशब्दद्वय-प्रवृत्तिनिमित्तम्, तेषामेवासमानपरिणामनिबन्धना विशेषबुद्धिः, इति ।

तथा चोक्तम्-

वस्तुन एव समानः परिणामो यः स एव सामान्यम् ।
असमानस्तु विशेषो वस्त्वेकमनेकरूपं तु ।।

ततश्च-तद्यत एव सामान्यरूपम्, अत एव विशेषरूपम्, समानपरिणामस्या-समानपरिणामाविनाभूतत्वात्; यत एव च विशेषरूपम्, अत एव सामान्यरूपम्, असमानपरिणामस्यापि समानपरिणामाविनाभावात्, इति । न चानयोर्विरोधः, समानासमानपरिणामयोरुभयोरपि स्वस्वसंवेदनसिद्धत्वात्, स्वसंवेदनस्योभय-रूपत्वात्, उभयरूपतायाश्च व्यवस्थितत्वात् ।

यच्चोक्तम्-"सामान्यविशेषोभयरूपत्वे सति वस्तुनः सकललोकप्रसिद्धसं-व्यवहारनियमोच्छेदप्रसङ्गः" इत्यादि, तदपि जिनमतानभिज्ञतासूचकमेव । नहि "विषमोदकादिविशेषानर्थान्तरम्, सर्वथैकस्वभावम्, एकम्, अनवयवम्, सामान्यम्" इत्यभिदधति जैनाः । न विषं विषमेव, मोदकाद्यभिन्नसामान्याव्यतिरेकात्, इत्यादि । किं तर्हि ? समानपरिणामः ? स च भेदाविनाभूतत्वात्; न य एव विषाद्विभिन्नः, स एव मोदकादिभ्योऽपि, सर्वथा तदेकत्वे समानत्वायोगात् ।

नन्वेतत्समानपरिणामस्यापि प्रतिविशेषमन्यत्वादसमानपरिणामवत्तद्भावा-नुपपत्तिः, इति । **एतदप्ययुक्तम्,** सत्यप्यन्यत्वे समानासमानपरिणामयोर्भिन्न-स्वभावत्वात्; तथाहि- समानधिषणाध्वनिनिबन्धनस्वभावः समानपरिणामः, तथा विशिष्टबुद्ध्यभिधानजननस्वभावस्त्वितरः, इति ।

यथोक्तसंवेदनासंवेद्याभिधेयाभिधाना एव विषादयः, इति प्रतीतमेतत्; अन्यथा यथोक्तसंवेदनाद्यभावप्रसङ्गात् । अतो यद्यपि द्वयमप्युभयरूपम्, तथाहि-विषार्थी विष एव प्रवर्त्तते, तद्विशेषपरिणामस्यैव तत्समानपरिणामाविनाभूतत्वात्; न तु मोदके, तत्समानपरिणामाविनाभावाभावात्तद्विशेषपरिणामस्य, इति । अतः

प्रयासमात्रफला प्रवृत्तिनियमोच्छेदचोदना, इति । एतेन "विषे भक्षितेऽपि मोदको भक्षितः स्यात्" इत्याद्यपि प्रतिक्षिप्तमवमन्तव्यम्, तुल्ययोगक्षेमत्वात्, इति ॥

यच्च परेणाप्युक्तम्-"सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः" इत्यादि, तदपि न विदुषां मनोरञ्जकमित्यपकर्णयितव्यम्, वस्तुतः प्रदत्तोत्तरत्वात्, इत्यलं विस्तरेण ।

यच्चोक्तम्-"एवमभिलाप्यानभिलाप्यम्" इत्यादि, तदप्ययुक्तम्, अन्यथा व्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्, तथाहि-यद्येकान्तेनैवानभिलाप्यमभ्युपगम्यते, कथं तर्हि शब्दविशेषादर्थप्रतीत्यादिः ? दृश्यते च 'अनलाद्यानय' इत्याद्युक्ते विनीतानां धूमध्वजादौ प्रवृत्तिः । एवमेकान्ताभिलाप्यत्वम्, अनलाचलादिशब्दोच्चारेण वदनदाहपूरणादिप्रसङ्गान्नाङ्गीकर्त्तव्यम् । न चैवंवादिनः क्वचिदप्युपलभ्यन्ते, इत्यतो नेह यत्नः; इति । तस्माद्व्यवहारान्यथाऽनुपपत्तेरभिलाप्यानभिलाप्यम्, इति स्थितम्; न चात्र विरोधबाधा, भिन्ननिमित्तत्वात्; तथाहि-अभिलाप्यधर्मकलापापेक्षया तदभिलाप्यम्, अनभिलाप्यधर्मकलापनिमित्तत्वापेक्षयाभिलाप्यम्, इति । धर्मधर्मिणोश्च कथञ्चिद्भेदः, इति प्रतिपादितम्, ततश्च तद्यत एवाभिलाप्यम्, अत एवानभिलाप्यम्; अभिलाप्यधर्मकलापनिमित्तापेक्षयैवाऽभिलाप्यत्वात्, अत एव चाभिलाप्यम्, अभीलाप्यधर्माणां चानभिलाप्यधर्माणां चानभिलाप्यधर्माविनाभूतत्वात् । यत एव चानभिलाप्यम्, अनभिलाप्यधर्माणां चाभिलाप्यधर्माविनाभूतत्वात्, इति ।

नन्वेतद्यदि 'तदभिलाप्यानभिलाप्यधर्मकम्' एवं तर्ह्यभिलाप्यानां शब्देनाभिधीयमानत्वात्किमित्यकृतसङ्केतस्य पुरोऽवस्थितेऽपि वाच्ये शब्दान्न संप्रत्ययप्रवृत्ती भवतः इति ।

अत्रोच्यते-तद् ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमाभावात्, तस्य च सङ्केताभिव्यङ्ग्यत्वात्; तथाहि- ज्ञस्वभावस्यात्मनो मिथ्यात्वादिजनितज्ञानावरणादिकर्ममलपटलाच्छादितस्वरूपस्य सङ्केततपश्चरणदानप्रतिपक्षभावनादिभिस्तदावरणकर्मक्षयोपशमक्षयावेवापद्येते, ततो विवक्षितार्थाकारं संवेदनं प्रवर्तते; इति । अन्यथा तत्प्रवृत्त्यभावात्, तत्प्रथमतयैव सर्वत्रादृष्टसङ्केतानामर्भकाणां सङ्केतस्य कर्तुमशक्यत्वात्; तथाहि-न शब्दादप्यसङ्केतितात्तदर्थे प्रतिपत्तिर्युज्यते, तत्सङ्केतकरणे च तत्राप्ययमेव

वृत्तान्तः, इत्यनवस्थाप्रसङ्गः । क्वचिदवस्थाने चास्मन्मतानुवाद एव, इत्यलं विस्तरेण ।

यदप्युक्तम्- "विरोधिधर्माध्यासितस्वरूपत्वाद्वस्तुनोऽनेकान्तवादिनो मुक्त्यभावप्रसङ्गः" इति, एतदपि सूक्ष्मेक्षिकया मुक्तिमार्गमनालोच्यैवोक्तम्, इति; उक्तवत्सत्त्वानित्यत्वादीनां विरोधित्वासिद्धेः; अन्यथा वस्त्वभावप्रसङ्गः ।

किञ्च-विरोधिधर्माध्यासितस्वरूपाभाव एव वस्तुन एकान्तवादिन एव मुक्त्यभावप्रसङ्गः; तथाहि-यदि तदात्माऽङ्गनामणिकनकधनधान्यादिकमेकान्तेनैवानात्मकादिधर्मयुक्तं भावनालम्बनमिष्यते, हन्त ! तर्हि सर्वथाऽनात्मकत्वाद्भावकभाव्याभावात्तत्परिज्ञानोत्तरकालभाविभावनाभावतः कुतः कस्य वा मोहादिग्रहाणाम्, इति कथ्यतामिदम् ।

नन्वेतद्विरुद्धधर्माध्यासितस्वरूपत्वे सति वस्तुन एवाभावात्तन्निबन्धनव्यवहाराभावः; नहि शीतोष्णस्पर्शवदेकमस्ति, तयोर्विरोधात्, इति **चेत्** ? अत्रोच्यते- अथ कोऽयं विरोधः ? अन्यतराभावेऽन्यतराभावः, इति **चेत्** ? अस्त्वेतत्, किन्तु-शीतोष्णस्पर्शयोर्यो विरोधः, स किं स्वरूपसद्भावकृत एव ? उतैककालेऽसंभवेन ? आहोश्विदेकद्रव्यायोगेन ? किमेककालैकद्रव्याभावतः ? उतैककालैकद्रव्यैकप्रदेशासम्भवेन ? आहोश्विदभिन्नत्वनिमित्तत्वेन ? इति ।

किञ्चातः ?

न तावत् 'स्वरूपसद्भावकृतः' एव शीतोष्णस्पर्शयोर्विरोधः, नहि शीतस्पर्शोऽनपेक्षितान्यनिमित्तः स्वात्मसद्भाव एवोष्णस्पर्शेन सह विरुध्यते, उष्णस्पर्शो वेतरेण; अन्यथा, त्रैलोक्येऽपि शीतोष्णस्पर्शाभावः स्यात्, एकस्य वा कस्यचिदवस्थानादन्यतरस्य; न चानयोर्जगति कदाचिदप्यसत्ता, सदैव वडवानलतुहिन-सद्भावात् । न 'चैककालासम्भवेन' शीतोष्णस्पर्शयोर्विरोधः; यतः-एकस्मिन्नपि काले तयोः सद्भाव उपलभ्यत एव, यथा शीता आपः पर्वते, तत्रैवोष्णोऽग्निरपि, इति । न 'चैकद्रव्यायोगेन' यतः-एकेनापि द्रव्येण तयोर्योगो

भवत्येव, तथा च शीतकाले रात्रौ निरावरणे देशे पर्युषिते लोहभाजने शीतस्पर्शो भवति, तत्रैव मध्याह्ने दिनकरप्रतप्ते उष्णः, इति न विरोधः । न 'चैककालैकद्रव्याभावतः' विरोधः;, यतः-एकस्मिन्नेव काले एकस्मिन्नेव द्रव्ये तयोर्भाव एव; तथाहि-धूपकडुत्थकस्थालकेऽग्निसम्बन्धे उष्णस्पर्शो भवति, तस्यैव तु गण्डके शीतः; इति, न च विरोधः । 'एककालैकद्रव्यैकप्रदेशासम्भवलक्षणविरोधः' इष्ट एव, एकप्रदेशस्यापरप्रदेशाभावेनावयवावयविभेदानुपपत्तेः, भिन्नधर्मत्वात्, भिन्नधर्मयोश्चैकत्वं विरुद्धमेव, अन्यथा, तद्भेदाभावप्रसङ्गात् ।

न चैवं सदसन्नित्यानित्यादिभेदानां भिन्नधर्मत्वम्, एकत्रैव भावात्; भावस्य च सतस्तत्स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण सद्वर्तते, परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण चासत्, इत्यादिना प्रतिपादितत्वात् । ततश्च नासम्भावनाविरोधेन नियमभाविनामपि विरोधकल्पना न्याय्या, अतिप्रसङ्गात् । नहि श्रावणत्वं विरुद्धमपि घटादिसत्त्वेन, न पुनरसत्तयाऽपि विरुध्यते, तथोपलम्भाभावात् । अभिन्ननिमित्तत्वेनापि विरोधः सिद्ध एव । नहि यदेव शीतस्पर्शस्य निमित्तं तदेवोष्णस्य, भेदाभावेन तत्सङ्करोपलब्धिप्रसङ्गात् । न च सदसदादिधर्माणामभिन्ननिमित्तम्, निमित्तभेदाभ्युपगमात्, न चैकस्मिन्निमित्तभेदो न युक्तः, एकान्तेन एकत्वासिद्धेः, धर्मधर्मिरूपत्वात्, धर्मधर्मिणोश्च भेदाभेदस्य प्रतिपादितत्वात्; इत्यलं विस्तरेण । इति सिद्धमेकत्रैव वस्तुनि कालाद्यभेदेन सत्त्वासत्त्वनित्यानित्यत्वेत्यादिधर्मवृन्दम्, इति; अनया गत्या चास्याः सप्तभङ्ग्याः स्याद्वादविचारचतुरत्वेन अनेकान्तविचारवर्द्धिनी इति विशेषणपदमपि सार्थकं बभूव । इति पूर्णः पञ्चमवृत्तार्थः ।।

नन्वत्र सप्तभङ्ग्यां सत्त्वासत्त्वयोरिव विशेषसामान्ययोरविनाभावो दर्शितः, स च कथं भवति ? **इत्याह-**

विशेषसामान्यमयाः पदार्था
भवन्ति सर्वेऽप्यविशेषमेव ।
अर्थान्तरत्वं त्वनवस्थितेस्तयो
र्न स्यात्कदाचिज्जिनराजशासने ।।६।।

व्याख्या-'**विशेषसामान्यमयाः**' इति-विशेषा विष्वग्भाववन्तः, सामान्या विष्वगभाववन्तश्च भवन्ति, इति । एतावता प्रतिपदार्थं सामान्यविशेषयोर-विष्वग्भावेनाव्यभिचारिसम्बन्धरूपाविनाभावात्सामानाधिकरण्यमुक्तम्; यत्र हि सामान्यम्, तत्रावश्यं विशेषस्य सत्त्वात्; यत्र च विशेषः, तत्राप्यवश्यं सामान्यस्य विद्यमानत्वात् । सामान्यविशेषयोश्च पदार्थस्वरूपत्वेन पदार्थानां तन्मयत्वं नाम ताभ्यामेकीभावापन्नत्वं चोक्तम्, इति; तथाहि-सामान्यं तावत्समानपरिणामनि-बन्धनम् । तथैवान्वर्थयोगात् सजातीयेभ्यः पदार्थेभ्य एवास्य समानपरिणामनि-बन्धनत्वात्, न तु विजातीयेभ्यः । तेन विजातीयार्थासमानपरिणामनिबन्धनं विशेषः; तथाविधपरिणामनिबन्धनत्वं च तत्स्वरूपवत एकस्यैव घटादेरर्थस्य, इति; तत्स्वरूपवत्त्वाभावे च वान्ध्येयस्येव घटादेरसत्त्वप्रसङ्गात् । इत्यादि साधकबाधकं पूर्वोक्तमेव, इति ॥

'**अविशेषमेव**' इति पदं तु 'द्रव्यगुणकर्मस्वेव सामान्यम्, विशेषस्तु नित्यद्रव्येष्वेव' इति परपरिकल्पितविशेषनिरासकत्वेन सार्थकम्, इति । **ननु** सामान्यविशेषयोः पदार्थाविष्वग्भावे कथमर्थान्तरत्वं स्यात् ? इति **चेत्**; न कथमपि इत्येतद्दर्शयति-'**अर्थान्तरत्वम्**' इति सामान्यस्य विशेषस्य वा पदार्थाद्भिन्नत्वेऽङ्गीक्रियमाणेऽनवस्था स्यात्; तथाहि यथा द्रव्यगुणकर्मसु सामान्यं सत्, 'सत्' इत्यादिव्यवहारजनकम्; तथा सामान्येऽपि सत्पदार्थत्वाविशेषात् तद्व्यवहारजनकं सामान्यान्तरं वाच्यम्, तत्रापि सामान्यान्तरम्, इत्यनवस्था ।

अथ तत्सामान्यस्य सद्व्यवहारः स्वरूपादेव भवति, तर्हि प्रकृतेऽपि तत्स्वरूपमेव तद्व्यवहारजनकमस्तु, किमिति ततो भिन्नसामान्यरूपार्थाङ्गीकारेण ? इति ।

एवं विशेषेऽप्यनवस्था; तथाहि-यथा विशेषः स्वाश्रयव्यावृत्तिजनकः, तथा विशेषेऽपि व्यावृत्तत्वाविशेषेण व्यावृत्तिजनकं विशेषान्तरं वाच्यम्, तत्रापि विशेषान्तरम्, इत्यनवस्था ।

अनया गत्याऽनवस्थितेर्जायमानत्वेन तयोः सामान्यविशेषयोरर्थान्तरत्वं

स्वाश्रयार्थभिन्नत्वं **न स्यात्**-न भवेत् । क्व ? **जिनराजशासने**-जिनेन्द्रशासन एव हि एवंविधविचारस्य विद्यमानत्वात् । '**कदाचित्**' इति पदं तु कथञ्चित्तयोरर्थान्तरत्वसूचकत्वे सार्थकम् ।

ननु यदि घटाद्यर्थेभ्यः सामान्यविशेषौ न भिन्नौ स्तः,तर्हि पदार्थानामनुवृत्ति-व्यावृत्ती कथं स्याताम् ? इति **चेत्**; उच्यते, स्वत एव तेषामनुवृत्तिव्यावृत्ती भवतः; तथाहि-घट एव तावत्पृथुबुध्नोदराद्याकारवत्त्वेन प्रतीतिविषयीभवन्सन्नन्यानपि तदाकृतिभृतः पदार्थान् घटस्वरूपतया घटशब्दवाच्यतया च प्रत्याययन्सामान्याख्यां लभते । स एव चेतरेभ्यः सजातीयविजातीयेभ्यो द्रव्यक्षेत्रकालभावैरात्मानं व्यावर्तयन्विशेषव्यपदेशमश्नुते; इति घटस्येवापरार्थानां स्वत एवानुवृत्तिव्यावृत्ती भवतः इति षष्ठवृत्तार्थः ।।६।।

ननु सामान्यविशेषौ पदार्थधर्मौ धर्मधर्मिणोश्चात्यन्तभेदेनार्थान्तरत्वसिद्धौ, कथं तयोस्तन्निरासः ? इति **चेत्**; न धर्मधर्मिणोस्तावदत्यन्तभेदमेव नाङ्गीकुर्मः, कथं तयोरर्थान्तरत्वसिद्धिः ? इत्येतद्दर्शयति-

यथाऽतिभेदो विबुधैर्निरस्यते
सम्बन्धहानेः खलु धर्मधर्मिणोः ।
भेदः कथञ्चित्तु तयोस्तथा न
श्रीमज्जिनेन्द्रागमसंमतस्तैः ।।७।।

व्याख्या-'यथा' इति दृष्टान्तोपन्यासे, धर्मधर्मिणोः **'विबुधैः'** जैनमतिनिष्णातैः **'अतिभेदः'** सर्वथा पार्थक्यं निरस्यते । कुतः ? **'सम्बन्धहानेः'** सम्बन्धाभावप्रसङ्गात् । कोऽर्थः ? यैर्धर्मधर्मिणोरत्यन्यभेदोऽङ्गीक्रियते, तैस्तयोः समवाय एवाङ्गीक्रियते, स च तयोरत्यन्तभेदेनोपपद्यते । न ह्यत्यन्तभिन्नयोर्घटपटयोरिव तयोः समवायसम्बधो भवति । तथा च प्रयोगः धर्मधर्मिणौ न समवायसम्बध्दौ, अत्यन्तभिन्नत्वात्, घटपटयोरिव; इति कृत्वा सम्बन्धहान्यापत्त्याऽतिभेदो बुधैर्निरस्यते, इति तात्पर्यम् ।

ननु यद्ययं सर्वथा भेदो बुधैर्निरस्यते, तर्हि तयोर्भेदः किं सर्वथा नास्त्येव ? इति **चेत्**; न, तयोः कथञ्चिद्भेदोऽस्ति, इति दर्शयति-'**भेदः**' इति तयोः कथञ्चिद्भेदस्तु तथा न तैर्बुधैर्निरस्यते, इति पूर्ववदेव संटङ्कः ।

नन्वेवं तयोः किं सम्बन्धहानिर्न भवति इति **चेत्**; न भवत्येव, इति ब्रूमः; यतो धर्मधर्मिणोर्जैनैरविष्वग्भावसम्बन्ध एवाङ्गीक्रियते, स च तयोरत्यन्तभेदाभावे सिद्धे सिद्ध एव ।

नन्वविष्वग्भावापन्नयोस्तयोः कथञ्चिद्भेदोऽप्यनुपपन्न एव, न हि स एव घटस्तस्माद् घटाद् भिद्यते, इति **चेत्** ? न, कथञ्चिद्भेदस्यैवं सिद्धेः, तथाहि- द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्यस्यापि धर्मिणोऽविष्वग्भावापन्नैर्धर्मैः सहाभेदः, उत्पादविनाशादिविषयदशापन्नैस्तैरेव सह भेदः, यथा-सुवर्णस्य धर्मिणः कटकत्वमुद्रिकात्वादिभिर्धर्मैः सह भेदाभेदौ । नहि कटकत्वमुद्रिकात्वादयो धर्मास्तदाकारीभूतात्सुवर्णात्क्वचित्पृथगुपलभ्यन्ते, इति कृत्वा तस्य तैः सहाभेदः, भेदस्तु कटकत्वादिधर्मनाशे मुद्रिकात्वादिधर्माणामुत्पद्यमानत्वेऽपि धर्मिणस्तस्य विद्यमानत्वात् । इति सप्तमवृत्तार्थः ॥७॥

ननु कथञ्चिद्भिन्नमपि धर्मधर्मिरूपं वस्तु किमुत्पत्तिमत् ? विनाशवत् ? स्थितिमत् ? तत्त्रयवद्वा ? इत्याशङ्कायामाह-

उत्पत्तिनाशस्थितिमद् घटात्मा-
दिकं मतं वस्तु जिनेन्द्रशासने ।
नाशादिकं ह्येकतरं न मन्यते
चेत्स्यादिवासन्खकुसुमं तदार्थः ॥८॥

व्याख्या-घटश्चात्मा च घटात्मानौ, तावादौ यस्य, तद् घटात्मादि; तदेव घटात्मादिकम्, स्वार्थे कादेवं सिद्धिः । '**वस्तु**' पदार्थः, '**उत्पत्तिनाशस्थितिमत्**' इति-उत्पत्तियुक्तम्, नाशयुक्तम्, स्थितियुक्तम्, इत्यर्थः । '**मतम्**' संमतम् ।

क्व ? **जिनेन्द्रशासने**=अर्हत्प्रवचने । तत्र असत आत्मलाभः उत्पत्तिः, सतः सत्ताविरहो नाशः, द्रव्यतयानुवर्तनं स्थितिः । तत्र घटस्य मृत्पिण्डाद्यवस्थायां पृथुबुध्नोदराद्याकारत्वेनासतस्तत्स्वरूपात्मलाभादुत्पत्तिमत्त्वम्, अथ तत्त्वेन सतस्तदभिन्नस्तदाकारविरहान्नाशवत्त्वम्, तथाऽनुवृत्ताकारनिबन्धनरूपद्रव्यतयाऽनुवर्तनात्स्थितिमत्त्वम् । एवमात्मनोऽपि तत्तद्भवापेक्षया देवत्वेनासतस्तत्त्वरूपात्मलाभादुत्पत्तिमत्त्वम्, तथा देवत्वेन सतस्तच्च्युतिरूपसत्ताविरहान्नाशवत्त्वम्, द्रव्यतयाऽनुवर्तनात्स्थितिमत्त्वम् । एवं सकलार्थानामप्येतत्त्रयात्मकत्वमेव ।

ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते न वा ? यदि भिद्यन्ते, तदा कथमेकं वस्तु त्र्यात्मकम् ? न भिद्यन्ते चेत् ? तथापि कथमेकं त्र्यात्मकम् ? इति **चेत्**; न, लक्षणत्वेन तेषां कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमात्; तथा च प्रयोगः-उत्पत्तिविनाशध्रौव्याणि कथञ्चिद्भिन्नानि, भिन्नलक्षणत्वात्, रूपवत् । अभिन्नानि च, परस्परं कदाचिदपि अनपेक्षत्वाभावात्; तथाहि-उत्पत्तिः केवला नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात्, कूर्मरोमवत्; तथा विनाशः केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिशून्यत्वात्, तद्वत्; एवं स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पत्तिशून्यत्वात्, तद्वदेव । एवमुत्पत्तिः स्थितिविनाशावपेक्षते, विनाशस्तु स्थित्युत्पादावपेक्षते, कोऽर्थः ? यस्यार्थस्योत्पत्तिस्तस्यैवार्थस्य स्थितिः, यस्य स्थितिस्तस्यैवोत्पत्तिः; यथा घटस्य स्वाकारादिनोत्पत्तिः, तस्यैव च घटस्य द्रव्यतया स्थितिरपि; तथा द्रव्यतया स्थितस्य घटस्य स्वाकारेणोत्पत्तिः, यस्यैवार्थस्य विनाशः, तस्यैव स्थितिः, यस्यैवार्थस्य स्थितिः तस्यैव विनाशः, यथा- घटस्यैव मृत्पिण्डावस्थाविनाशात्स्वावस्थोत्पत्तिः, द्रव्यतयाऽवस्थितस्यैव तस्य तदाकारविरहान्नाशः, एवमुत्पादव्ययध्रौव्याणां परस्परसापेक्षत्वेनाभेदोऽपि सिद्धः । तेनोत्पत्तिस्थितिविनाशाः कथञ्चिद्भिन्नाः । इति सिद्धमेकं वस्तु त्र्यात्मकम्, इति ।

नन्वेतेषां त्रयाणां मध्ये क्वचिद्यद्येकतरं नाङ्गीक्रियते, तदा किं भवति ? इत्याह **'नाशादि'** इति चेत्; यद्येतेषामुत्पत्तिस्थितिनाशानां मध्यान्नाशादिकमेकतरं **न मन्यते**-नाङ्गीक्रियते । केषाञ्चित् गगनाद्यर्थानां नाशो नाङ्गीक्रियते,

आदिशब्दादेवोत्पत्तिर्नाङ्गीक्रियते, उत क्षणिकवादाश्रयणेन तेषामेव स्थितिर्नाङ्गीक्रियते, तदा तर्हि **अर्थो**-घटादिः '**खकुसुमम्**' इव गगनकुसुममिव असन् भवेत् । अयं भावार्थः-उत्पत्तिनाशस्थितिमत्त्वं तावत्सत्त्वम्, नाशाद्यनङ्गीकारे चार्थस्यैतल्लक्षणलक्षितसत्त्वाभावादसत्त्वमेव स्यात्, खकुसुमदृष्टान्तेऽपि तथात्वाभावात्सत्त्वाभावः ।

ननु खकुसुमे त्वेतेषां त्रयाणामप्यभावोऽस्ति, प्रकृते च एकतराद्यनङ्गीकारे कथं खकुसुमसाम्यम् ? इति **चेत्**; सत्यम्, नाशाद्येकतराङ्गीकारे ह्यपरयोर्द्वयोरप्यनङ्गीकार एव; तथाहि नाशाभावाद् घटस्योत्पत्तिर्नास्ति पूर्वाकारपरित्यागेनैवोत्तराकारोत्पादात् । परित्यागस्तु नाश एव, इति तयोः साहचर्यम् ।

अथ यस्योत्पत्तिर्नास्ति, तस्य स्थितिरपि नास्ति, स्वाकारेणोत्पन्नस्यैव द्रव्यतया स्थितत्वात्; अन्यथाऽनुत्पन्नत्वेन पर्यायाभावाद् द्रव्यत्वाभावप्रसक्त्याऽसत्त्वमेव स्यात् । न हि जगति पर्यायद्रव्यातिरिक्तं किञ्चिदस्ति, इति । तथा चैकतराद्यभावे त्रयाणामप्यभावादर्थस्य खकुसुमसाम्यं स्यात्, असत्त्वाविशेषात्, तस्मादुत्पत्तिस्थितिविनाशवदेव वस्त्वङ्गीकर्त्तव्यम्,' इत्यष्टमवृत्तार्थः ।।८।।

अथोपसंहरन्नाह :

जयत्यसौ श्रीजिनशासनस्ततः
स्याद्वादतात्पर्यनिबन्धबन्धूरः ।
नयप्रकाशाष्टकनामधारकः
स्वार्थं कृतः पण्डितपद्मसागरैः ।।८।।

सुकरमेवेदं नवमवृत्तम्, इति । समाप्तेयं श्रीनयप्रकाशवृत्तिः ।

स्याद्वादनिष्णातचक्रिचक्रशिरोमणिः ।
अतुच्छस्वच्छसद्गच्छतपोगच्छप्रभुः प्रभुः ।।१।।

श्रीहीरविजयाभिख्यः सूरिर्जयति भूतलम् ।
यद्गुणग्रामपीयूषास्वादवान्विबुधो जनः ।।२।।

राज्ये तदीयेऽखिलशास्त्रवेदिनः श्रीवाचकाग्रेसरधर्मसागराः ।
जयन्ति तेषां चरणप्रसत्त्या नयप्रकाशो विहितो मयाऽयम् ।।३।।

चक्रे शास्त्रमिदं यत्नात् अग्निषट्चन्द्रवत्सरे । (१६७३)
पद्मसागरसंज्ञेन बुधेन स्वात्मबुद्धये ।।४।।

।। नमोऽस्तु श्रीस्याद्वादवादिपर्षदे ।।

।। नयचक्रालापपद्धतिः ।।

पंडित श्रीदेवसेनगणी

॥ नयचक्रालापपद्धतिः ॥

अथ नयचक्रं लिख्यते ।

गुणानां विस्तरं वक्ष्ये स्वभावानां तथैव च ।

पर्यायाणां विशेषेण नत्वा वीरजिनेश्वरम् ॥

आलापपद्धतिर्वचनरचनानुक्रमेण नयचक्रस्योपरि उच्यते । सा च किमर्थं ? द्रव्यलक्षणसिद्ध्यर्थं स्वभावसिद्ध्यर्थं च । द्रव्याणि कानि ? जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि । 'सत्' द्रव्यलक्षणं । उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।

॥ इति द्रव्याधिकारः ॥

लक्षणानि कानि ? अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुलघुत्वं, प्रदेशत्वं, चेतनत्वं, अचेतनत्वं, मूर्तत्वं, अमूर्तत्वम् (इति) द्रव्याणां दश सामान्यगुणाः । प्रत्येकं अष्टौ अष्टौ ।

सर्वेषां ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णं, गतिहेतुत्वं, स्थितिहेतुत्वं, अवगाहनहेतुत्वं, वर्तनाहेतुत्वं, चेतनत्वं, अचेतनत्वं, मूर्तत्वं, अमूर्तत्वं द्रव्याणां षोडशविशेषगुणा । प्रत्येकं जीव-पुद्गलयोः षड् इतरेषां प्रत्येकं त्रयो गुणाः । अन्तस्थाश्चत्वारो गुणाः । स्वाजात्यपेक्षया सामान्यगुणाः । विजातीयापेक्षया विशेषगुणाः । **।। इति गुणाधिकारः ।।**

गुणविकाराः पर्यायाः । ते द्वेधा-स्वभाव-विभावपर्यायभेदात् । अगुरुलघु पर्यायाः स्वभावपर्यायाः । ते द्वादशधा षड्वृद्धि-हानि-रूपाः । अनन्तभागवृद्धिः, असङ्ख्यातभागवृद्धिः, सङ्ख्यातभागवृद्धिः, सङ्ख्यातगुणवृद्धिः, असङ्ख्यातगुणवृद्धिः । अनन्तगुणवृद्धिः । इति षड्वृद्धिः । तथा-अनन्त भागहानिः, असङ्ख्यातभागहानिः, सङ्ख्यातभागहानिः, सङ्ख्यातगुणहानिः, असङ्ख्यातगुणहानिः, अनन्तगुणहानिः **।। इति षड्वृद्धिहानिगुणनिरूपणम् ।।**

विभावपर्यायाश्चतुर्विधाः नरनारकादिपर्यायाः । अथवा चतुरशीतिलक्षाश्च विभावद्रव्य-व्यञ्जनपर्यायाः । नरनारकादिजीवा विभावगुणव्यञ्जानपर्यायाः । मत्यादयः स्वभावद्रव्यव्यञ्जन-पर्यायाः । चरमशरीरात् किञ्चिन्न्यूनाः सिद्धपर्यायाः स्वभावगुणव्यञ्जनपर्यायाः अनन्तचतुष्टयस्वरूपाः जीवस्य । पुद्गलस्य तु द्व्यणुकादयो विभावद्रव्य-व्यञ्जनपर्यायाः । रस-रसान्तरगन्धगन्धान्तरादिविभाव-गुणव्यञ्जनपर्यायाः । वर्ण-गन्धरसैकैकाविरुध्दस्पर्शद्वयं स्वभावगुणव्यञ्जनपर्यायाः ।

अनादिनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम् ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ।। एवं पर्यायाधिकारः ।।

गुणपर्यायवद् द्रव्यम् । स्वभावाः कथ्यन्ते । अस्तिस्वभावः, नास्तिस्वभावः, नित्यस्वभावः, अनित्यस्वभावः, एकस्वभावः, अनेकस्वभावः, भेदस्वभावः, अभेदस्वभावः, भव्यस्वभावः, अभव्यस्वभावः, परमस्वभावः । **।। इति द्रव्याणामेकादश सामान्यस्वभावाः ।।**

चेतनस्वभावः, अचेतनस्वभावः, मूर्तस्वभावः, अमूर्तस्वभावः, एकप्रदेश-स्वभावः, अनेकप्रदेशस्वभावः, विभावस्वभावः, शुद्धस्वभावः, अशुद्धस्वभावः, उपचरितस्वभावः । एते द्रव्याणां दश विशेषस्वभावाः ।

जीवपुद्गलयोरेकविंशतिस्वभावाः । चेतनस्वभावः, मूर्तस्वभावः, विभाव-स्वभावः, अशुद्धस्वभावः, एकप्रदेशस्वभावः, एतैर्विना धर्मादित्रयाणां षोडश । तत्र बहुप्रदेशं विना कालस्य पञ्चदश स्वभावाः ।

एकविंशति भावाः स्युः जीवपुद्गलयोर्मताः ।

धर्मादीनां षोडश स्युः काले पञ्चदश स्मृताः ।।

ते कुतो ज्ञेयाः ? प्रमाणनयविवक्षात् । सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् । तद् द्वेधा प्रत्यक्षेतरभेदात् । अवधिमनःपर्ययौ एकदेशप्रत्यक्षौ । केवलं सकलप्रत्यक्षम् । मतिश्रुते परोक्षप्रमाणमुक्तम् ।।

तदवयवाः नयाः । नयभेदाः उच्यन्ते । गाहाः-

णिच्छय-ववहार-नया मूल-भेया णयाण सव्वाणं

णिच्छयसाहणहेऊ दव्वयपज्जत्थिया मुणेह ।।१।।[1]

द्रव्यार्थिकः, पर्यायार्थिकः, नैगमः, सङ्ग्रहः, व्यवहारः, ऋजुसूत्रः, शब्दः, समभिरूढः, एवम्भूत इति नव नयाः स्मृताः ।

उपनयाश्च कथ्यन्ते । नयानां समीपे उपनयाः । सद्भूतव्यवहारः, असद्भूत-व्यवहारः उपचरितासद्भूतव्यवहार इति उपनयाः त्रेधा । इदानीमेतेषां भेदा उच्यन्ते ।

(१) कर्मोपाधिनिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिको, यथा संसारिजीवः सिद्धसदृक् शुद्धात्मा ।

(२) उत्पाद-व्यय-गौणत्वेन सत्ताग्राहकः शुद्धद्रव्यार्थिकः, यथा द्रव्यं नित्यम् ।

(३) भेदकल्पनानिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिको, यथा निजगुणपर्यायस्वभावाद् द्रव्यमभिन्नम् ।

---

१. निश्चयव्यवहारनयौ मूलभेदौ नयानां सर्वेषाम् ।

निश्चयसाधनहेतवः द्रव्यकपर्यायार्थिकाः जानीथ ।।

(४) कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिको, यथा क्रोधादिकर्मजभाव आत्मा ।

(५) उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिको, यथा एकस्मिन् समये द्रव्यं उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम् ।

(६) भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिको, यथा आत्मनो दर्शनज्ञानादयो गुणाः ।

(७) अन्वयद्रव्यार्थिको, यथा गुणपर्यायस्वभावं द्रव्यम् ।

(८) स्वद्रव्यादिग्राहको द्रव्यार्थिको यथा-स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्ति ।

(९) परद्रव्यादिग्राहको द्रव्यार्थिको यथा परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यं नास्ति ।

(१०) परमभावग्राहको द्रव्यार्थिको यथा ज्ञानस्वरूप आत्मा । अनेकस्वभावानां मध्ये ज्ञानाख्यः परमस्वभावो गृहीतः ।

।। इति द्रव्यार्थिकस्य दश भेदाः ।।

(१) अनादिनित्यपर्यायार्थिको यथा-पुद्गलपर्यायो नित्यो मेर्वादिः ।

(२) सादिनित्यपर्यायार्थिको यथा-सिद्धजीवपर्यायो नित्यः ।

(३) सत्तागौणत्वेन उत्पादव्ययग्राहकस्वभावो नित्यशुद्धपर्यायार्थिको, यथा समयं समयं प्रतिपर्यायविनाशिनः पर्यायाः ।

(४) सत्तासापेक्षस्वभावान्नित्याशुद्धपर्यायार्थिको यथा एकस्मिन् समये त्रयात्मकः पर्यायः ।

(५) कर्मोपाधिनिरपेक्षस्वभावो नित्यशुद्धपर्यायार्थिको यथा- सिद्धपर्याय सदृशाः शुद्धाः संसारिणां पर्यायाः ।

(६) कर्मोपाधिसापेक्षस्वभावोऽनित्यशुद्धपर्यायार्थिको, यथा संसारिणां उत्पत्तिमरणे स्तः ।

।। इति पर्यायार्थिकस्य षड् भेदाः ।।

नैगमस्त्रेधा - भूतभाविवर्तमानकालभेदात् ।

अतीते वर्तमानारोपणं यत्र स भूतनैगमः । यथा अद्य दीपमालिकायां अमावास्यायां महावीरो मोक्षं गतः ।

भाविकाले वर्तमानारोपणं यत्र स भाविनैगमः । यथा अर्हन् सिद्ध एव ।

कर्तुमारब्धं इषन्निष्पन्नं अनिष्पन्नं वा वस्तु निष्पन्नवत् कथ्यते यत्र स वर्तमान नैगमः । यथा-ओदनं पच्यते । **नैगमस्त्रेधा** ।

सङ्ग्रहो द्विविधः । सामान्यसङ्ग्रहो यथा-सर्वाणि द्रव्याणि परस्परमविरोधीनि ।

विशेषसङ्ग्रहो यथा सर्वे जीवाः परस्परमविरोधिनः । **सङ्ग्रहोऽपि द्वेधा** ।

व्यवहारो द्विविधः । सामान्यसङ्ग्रहभेदकव्यवहारो यथा - द्रव्याणि जीवाजीवाः ।

विशेषसङ्ग्रहभेदकव्यवहारो, यथा जीवाः संसारिणो मुक्ताश्च । **व्यवहारोऽपि द्वेधा** ।।

ऋजुसूत्रोऽपि द्विविधः । सूक्ष्मऋजुसूत्रो यथा-एक समयावस्थायी पर्यायः ।

स्थूलऋजुसूत्रो यथा-मनुष्यादि पर्यायाः तदायुःप्रमाणं कालं तिष्ठति । **ऋजुसूत्रोऽपि द्वेधा** ।।

शब्द-समभिरूढैवम्भूताः प्रत्येकमेकैका नयाः ।

शब्दनयो यथा-दारा-भार्या कलत्रं । जलमापः ।

समभिरुढ नयो यथा- गोः पशवः ।

एवम्भूतनयो यथा-इन्दतीति ईन्द्रः ।

उक्ता अष्टाविंशतिर्नयभेदाः ।।

उपनयभेदा उच्यन्ते ।

शुद्धसद्भूतव्यवहारः । शुद्धगुणाः शुद्धगुणिनः, शुद्धपर्यायाः शुद्धपर्यायिणः भेदकथनम् ।

अशुद्धसद्भूतव्यवहारः । अशुद्धगुणाः अशुद्धगुणिनः, अशुद्धपर्यायाः अशुद्धपर्यायिणः भेदकथनम् इति । उपचरितानुपरितभेदेनासद्भूतोऽपि द्वेधा ।

स्वजात्यसद्भूतव्यवहारो यथा परमाणुः बहुप्रदेशी इति कथनम् इत्यादि।

विजात्यसद्भूतव्यवहारो, यथा मूर्तं मतिज्ञानं यतो मूर्तद्रव्येण जनितम् ।।

स्वजात्यविजात्यसद्भूतव्यवहारो, यथा ज्ञेये जीवे अजीवे ज्ञानमिति कथनं ज्ञानस्य विषयात् ।

असद्भूतव्यवहारस्त्रेधा ।

स्वजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा पुत्रादि अहं मम वा ।

विजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा वस्त्राभरणहेमरत्नादि मम ।

स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा देशराज्यदुर्गादि मम ।

उपचरितासद्भूतव्यवहारस्त्रेधा ।

सहभुवो गुणाः । क्रमवर्तिनः पर्यायाः । गुण्यते पृथक्क्रियते द्रव्यं द्रव्याद्यैस्ते गुणाः । 'अस्ति द्रव्ये' तस्य भावः अस्तित्वम् । सद्रूपत्वं वस्तुनो भावो वस्तुत्वम् । सामान्यविशेषात्मकं वस्तु । द्रव्यस्वभावो द्रव्यत्वम् । निजनिज-प्रदेश-समूहैरखण्डवृत्त्या स्वभावपर्यायान् द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवदिति द्रव्यम् । 'सद्' द्रव्यलक्षणं-सीदति स्वकीयान् गुणपर्यायान् व्याप्नोतीति सत् । उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । प्रमेयस्य भावः प्रमेयत्वम् । प्रमाणेन स्वपरस्वरूपं परिच्छेद्यं प्रमेयम् । अगुरुलघोर्भावोऽगुरुलघुत्वम् । सूक्ष्मा अवाक्गोचराः प्रतिक्षणं वर्तमाना आगमप्रामाण्यादभ्युपगम्या अगुरुलघोर्गुणाः ।

श्लोकः- **सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते ।**

आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ।।

प्रदेशस्य भावः प्रदेशत्वम् । क्षेत्रत्वम् अविभागि-पुद्गलपरमाणुनावष्टब्धत्वम् । चेतनस्य भावः चेतनत्वम् । चैतन्यमनुभवनम् । श्लोकः-

चैतन्यमनुभूतिः स्यात् स क्रियारूपमेव च ।

क्रिया मनोवचःकार्येष्वन्विता वर्तते ध्रुवम् ।।

अचेतनस्य भावोऽचेतनत्वम् । अचैतन्यमननुभवनम् । मूर्तस्य भावो मूर्तत्वम् । मूर्तत्वं रूपादिमत्त्वम् । (अमूर्तस्य भावो अमूर्तत्वम् । अमूर्तत्वं रूपादिरहितत्वम् ।)

।। गुणानां व्युत्पत्तिस्वभावः ।।

विभावरूपतया याति = परिणमतीति पर्यायाः ।

पर्यायस्य व्युत्पत्तिः ।

स्वभावलाभाच्युतत्वाद् अस्तिस्वभावः ।

परस्वरूपेणाभावात् नास्तिस्वभावः ।

निजनिजनानापर्यायेषु तदेव इति द्रव्यस्योपलम्भान्नित्यस्वभावः तस्याप्यनेक-पर्यायपरिणामित्वादनित्यस्वभावः ।

स्वभावानामेकाधारात्वादेकस्वभावः ।

एकस्याप्यनेकस्वभावोपलम्भादनेकस्वभावः ।

गुणगुण्यादिसंज्ञादिभेदस्वभावाद् भेदस्वभावः । सञ्ज्ञा-सङ्ख्या-लक्षण-प्रयोजनानि गुणगुण्याद्येकस्वभावादभेदस्वभावः ।

भाविकाले परस्वरूपाकारभवनाद् भव्यस्वभावः ।

कालत्रयेऽपि परस्वरूपाकाराभवनादभव्यस्वभावः । उक्तं च-

अण्णोण्णं पविसंता दित्ता ओगासमन्नमण्णस्स ।

मेलंता वि य णिच्चं सगसगभावं न विजहंति ।।[१]

---

१. अन्योन्यं प्रविशन्तः ददन्तः अवकाशमन्योन्यस्य ।
मिलन्तोऽपि च नित्यं स्वक-स्वक-भावं न विजहन्ति ।।

पारिणामिकभावप्रधानत्वेन परमस्वभावः ।

सामान्यस्वभावानां व्युत्पत्तिः, प्रदेशादिगुणानां व्युत्पत्तिः, चेतनादिविशेष-स्वभावानां च व्युत्पत्तिर्निगदिता ।

धर्मापेक्षया स्वभावाः गुणा न भवन्ति । स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया परस्परं गुणाः स्वभावाः भवन्ति । द्रव्याण्यपि भवन्ति ।

स्वभावादन्यथा भवनं विभावः । केवलभावमशुद्धं तस्य विपरीतम् । (?)

स्वभावस्यापि अन्यत्रोपचारादुपचरितस्वभावः । स द्वेधा-कर्मज-स्वाभाविकभेदात् । यथा जीवस्य मूर्तत्वम् अचेतनत्वं च । यथा सिद्धात्मनां परज्ञता परदर्शकत्वं च । एवमितरेषां द्रव्याणामुपचारो यथासम्भवो ज्ञेयः । विशेषस्वभावानां व्युत्पत्तिः । श्लोकः-

दुर्नयैकान्तमारूढा भावा न स्वार्थिका हि ते ।
स्वार्थिकाश्च विपर्यस्ताः सकलं कानया यतः ।।

तत्कथम् ? सर्वथैकान्तेन सद्रूपस्य न नियतार्थव्यवस्था सङ्करादिदोषात् । तथा सद्रूपस्य सकलशून्यताप्रसङ्गात् । नित्यस्यैकरूपत्वादेकरूपस्यार्थक्रिया कारित्वाभावः । अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याभावः । अनित्यपक्षेऽपि निरन्वय-त्वाद् अर्थक्रियाकारित्वाभावः । अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः । एक-स्वरूपस्यैकान्तेन विशेषाभावः, सर्वथैकरूपत्वात्, विशेषाभावे सामान्यस्याप्यभावः ।

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् ।
सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि ।। इति ज्ञेयाः ।

अनेकपक्षेऽपि तथा द्रव्याभावो निराधारत्वात् । आधारधेयाभावाच्च भेदपक्षेऽपि विशेषस्वभावानां निराधारत्वादर्थक्रियाकारित्वाभावः, अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः ।

भव्यस्यैकान्तेन पारिणामिकत्वात् द्रव्यस्य द्रव्यान्तरत्वप्रसङ्गात्, सङ्करादिदोष

सम्भवात् सङ्कर-व्यतिकर-विरोध-वैयधिकरण्यानवस्थासंशया-प्रतिपत्तिः अभावश्चेति ।

सर्वथा भव्यस्यैकान्तेऽपि तथा, शून्यताप्रसङ्गात् स्वभावरूपस्यैकान्तेन संसाराभावः ।

विभावपक्षेऽपि मोक्षस्याभावः ।

सर्वथा चैतन्यमित्युक्ते सर्वेषां शुद्धज्ञानचैतन्यव्याप्तिः स्यात्, तथा सति ध्यानं ध्येयं, ज्ञेयं ज्ञानं गुरुशिष्याद्यभावः ।

सर्वथाशब्दः सर्वप्रकारवाची अनेकान्तवाची वा, सर्वादिगणे पठनात् । सर्वशब्दः एवंविधश्चेत् तर्हि सिद्धं नः समीहितं । अथवा नियमवाची चेत् तर्हि सकलार्थानां तव प्रतीतिः कथं स्यात् ? नित्यमनित्यमेकमनेकं भेदोऽभेद (इति) कथं प्रतीतिः स्यात् ? नियमितपक्षत्वात् ।

तथा चैतन्यपक्षेऽपि सकलचैतन्योच्छेदः स्यात् । मूर्तस्यैकान्तेनात्मनो न मोक्षस्य व्याप्तिः स्यात् । सर्वथाऽमूर्तस्य तथात्मनः संसारविलोपः स्यात् ।

एकप्रदेशस्यैकान्तेनाखण्डपरिपूर्णस्यात्मनोऽनेककार्यकारित्व एव हानिः स्यात् ।

सर्वथानेकप्रदेशत्वेऽपि तथा । तस्यार्थक्रियाकारित्वं स्वस्वभावशून्यताप्रसङ्गात् ।

शुद्धस्यैकान्तेन आत्मनो न कर्ममलकलङ्कावलेपः स्यात्, सर्वथा निरञ्जनत्वात् ।

सर्वथाऽशुद्धैकान्तेऽपि तथात्मनो न कदाचिदपि शुद्धस्य भावः = प्रसङ्गः स्यात्, तन्मयत्वात् ।

उपचरितैकान्तपक्षेऽपि नात्मज्ञानं सम्भवति, नियमितपक्षत्वात् ।

तथात्मनोऽनुपचरितपक्षेऽपि परज्ञानादीनां विरोधः स्यात् । श्लोकः-

नानास्वभावसंयुक्तं द्रव्यं ज्ञात्वा प्रमाणतः ।
तच्च सापेक्षसिद्ध्यर्थं स्यान्नयमिश्रितं कुरू ।।

स्वद्रव्यादिग्राहकेन अस्तिस्वभावः । परद्रव्यादिग्राहकेन नास्तिस्वभावः । उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकेन नित्यस्वभावः । केनचित् पर्यायार्थिकेन अनित्यस्वभावः । भेदकल्पनानिरपेक्षेणैकस्वभावः । अन्वयद्रव्यार्थिकस्याप्य नेकस्वभावत्वम् । सद्भूतव्यवहारेण (भेदकल्पनासापेक्षेण गुणगुण्यादिभिः) भेदस्वभावः । परमभावग्राहकेण भव्याभव्य-पारिणामिकस्वभावः । शुद्धाशुद्ध परमभावग्राहकेण चेतनस्वभावो जीवस्य । असद्भूतव्यवहारेण कर्म नोकर्मणोपि चेतनस्वभावः । अचेतनस्वभावपरमभावग्राहकेण कर्मनोकर्मणो मूर्तस्वभावः । जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेण मूर्तस्वभावः । परमभावग्राहकेण पुद्गलं विहायेतरे षाममूर्तस्वभावः । पुद्गलस्योपचारादपि नास्त्यमूर्तत्वम् । परमभावग्राहकेण कालपुद्गलाणूनामेकप्रदेशस्वभावत्वं भेदकल्पनानिरपेक्षेण । इतरेषां च भेद कल्पनासापेक्षेण चतुर्णामपि नानाप्रदेशस्वभावत्वम् । पुद्गलाणोरूपचरितः । नानाप्रदेशस्वभावानां च । कालाणोः स्निग्धरूक्षत्वाभावात् पुद्गलस्य । अणो रमूर्तत्वाभावे पुद्गलस्यैकविंशतितमो भावो न स्यात् परोक्षप्रमाणापेक्षया । असद्भूतव्यवहारेणाप्युपचारेणाप्यमूर्तत्वम् । शुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकेन विभावत्वम् । शुद्धद्रव्यार्थिकेन शुद्धस्वभावः । असद्भूतव्यवहारेण उपचरितस्वभावः । श्लोकः-

द्रव्याणां तु यथा रूपं, तल्लोकेऽपि व्यवस्थितम् ।
तत्तज्ज्ञानेन सञ्ज्ञातं, नयोऽपि हि तथाविधः ।।

।। इति नययोजनिका ।।

सकलवस्तुग्राहकं प्रमाणम् । प्रमीयते = परिच्छेद्यते वस्तुतत्वं यज्ज्ञानेन तत्प्रमाणम् । तद् द्वेधा- सविकल्पेतरभेदात् । सविकल्पं मानसं, तच्चतुर्विधं मतिश्रुतावधिमनःपर्याय-ज्ञानरूपम् । निर्विकल्पं तु मनोरहितं केवलज्ञानम् ।। **प्रमाणस्य व्युत्पत्तिः ।।**

प्रमाणेन वस्तुसङ्गृहीतार्थैकांशो नयः । श्रुतविशेषो वा ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः । नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्त्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्राप्नोतीति वा नयः । स द्वेधा-सविकल्पनिर्विकल्पभेदात् ।। **नयस्य व्युत्पत्तिः ।।**

प्रमाणनयैर्निक्षेपनं निक्षेपः । स नामस्थापनादिभेदेन चतुर्विधः ।। **निक्षेपस्य व्युत्पत्तिः** ।।

१. द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः ।

२. शुद्धद्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति शुद्धद्रव्यार्थिकः ।

३. अशुद्धद्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति अशुद्धद्रव्यार्थिकः ।

४. सामान्यगुणादयोऽन्वयरूपेण द्रव्यं द्रव्यमिति व्यवस्थापयतीति अन्वय द्रव्यार्थिकः ।

५. स्वद्रव्यादिग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति स्वद्रव्यादिग्राहकः ।

६. परमद्रव्यादिग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति परमद्रव्यादिग्राहकः ।

७. परमभावग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति परमभावग्राहकः ।।

द्रव्यार्थिकस्य व्युत्पत्तिः ।।

पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः । अनादिनित्यपर्याय एव अर्थः प्रयोजनमस्येति अनादिनित्यपर्यायार्थिकः ।

सादिनित्यपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति सादिनित्यपर्यायार्थिकः ।

शुद्धपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति शुद्धपर्यायार्थिकः ।

अशुद्धपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति अशुद्धपर्यायार्थिकः ।। **पर्यायार्थिकस्य व्युत्पत्तिः** ।।

नैकं गच्छतीति निगमः । निगमो विकल्पः । तत्र भवो नैगमः ।

अभेदरूपतया वस्तून् सङ्गृह्णातीति सङ्ग्रहः ।

सङ्ग्रहेण गृहीतार्थस्य भेदरूपतया वस्तु व्यवह्रियते इति व्यवहारः ।

ऋजु प्राञ्जलं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः ।

शब्दात् व्याकरणात् प्रकृतिप्रत्ययद्वारेण सिद्ध (शब्दः) शब्दनयः ।

परस्परेणाभिरूढः समभिरूढः शब्दभेदेऽप्यर्थभेदो नास्ति । इन्द्रः शक्रः पुरंदरः इत्यादयः समभिरूढः ।

एवं क्रियाप्रधानत्वेन भूयत इति एवम्भूतः ।

शुद्धाशुद्धनिश्चयौ द्रव्यार्थिकस्य भेदौ ।

अभेदानुपचरिततया वस्तु निश्चीयत इति निश्चयः ।

भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहारः ।

गुणगुणिनोः संज्ञादिभेदात् भेदकः सद्भूतव्यवहारः ।

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः । असद्भूत व्यवहार एव उपचारः ।

उपचारादप्युपचारो यः करोति स उपचरितासद्भूतव्यवहारः ।

गुणगुणिनोः, पर्यायपर्यायिनोः स्वभावस्वभाविनोः कारक-कारकिनोः भेदः सद्भूतव्यवहारस्यार्थः ।

द्रव्ये द्रव्योपचारः (१) गुणे गुणोपचारः (२) पर्याये पर्यायोपचारः, (३) द्रव्ये गुणोपचारः, (४) द्रव्ये पर्यायोपचारः, (५) गुणे द्रव्योपचारः, (६) गुणे पर्यायोपचारः, (७) पर्याये द्रव्योपचारः, (८) पर्याये गुणोपचारः (९) इति नवविधः असद्भूतव्यवहारस्यार्थः द्रष्टव्यः ।

उपचारः पृथङ्नयो नास्ति इति न पृथक् कृतः । मुख्याभावे सति प्रयोजननिमित्ते चोपचारः प्रवर्तते । सोऽपि सम्बन्धाविनाभावः, संश्लेषः सम्बन्धः, परिणामपरिणामिसम्बन्धः, श्रद्धाश्रद्धेय सम्बन्धः, ज्ञानज्ञेय सम्बन्धः, चारित्रचर्यासम्बन्धश्चेत्यादि ।

सत्यार्थः, असत्यार्थः, सत्यासत्यार्थश्चेत्युपचरितासद्भूतव्यवहारः ।

नयस्यार्थः पुनरपि । अध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते । (तत्र) तावन्मूलनयो

द्वेधा-निश्चयो व्यवहारश्च । तत्र निश्चयोऽभेदविषयः व्यवहारो भेदविषयः । तत्र निश्चयो द्विविधः शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च । तत्र निरूपाधिकगुणगुण्यभेदविषयः शुद्धनिश्चयः, यथा केवलज्ञानादयो जीवा इति । सोपाधिकगुणगुणिनः अभेदविषयोऽशुद्धनिश्चयः, यथा मतिज्ञानादयो जीवा इति ।।

व्यवहारोऽपि द्विविधः- सद्‌भूतव्यवहारोऽसद्‌भूतव्यवहारश्च । तत्रैकवस्तुविषयः सद्‌भूतव्यवहारः । भिन्नवस्तुविषयोऽसद्‌भूतव्यवहारः । तत्र सद्‌भूतव्यवहारो द्विविधः । उपचरितानुपचरितभेदात् । तत्र सोपाधिकगुणगुणिभेदविषयः उपचरितसद्‌भूतव्यवहारः । यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः । निरुपाधिगुणगुणिभेदविषयः अनुपचरितसद्‌भूतव्यवहारो यथा जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणाः । असद्‌भूतव्यवहारो द्विविधः उपचरितानुपचरितभेदात् । तत्र संश्लेषरहितवस्तुसम्बन्धविषयः उपचरितासद्‌भूतव्यवहारो, यथा देवदत्तस्य धनमिति । संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषय उपचरितासद्‌भूतव्यवहारः, यथा जीवस्य शरीरमिति भावार्थः ।।

।। इति सुखबोधार्थमालापपद्धतिर्देवसेनपण्डितविरचिता परिसमाप्ता ।।

।। मिति चैत्र सुदि ७ शुक्रवार । संवत १९७१ लिखितं साध्वी ऋद्धिकुमारी गच्छनागोरी लोंकासवाई जयपुरामध्ये ।।

।। नयचक्रसारः ।।

।। श्री देवचन्द्रजी ।।

॥ नयचक्रसारः ॥

नयास्तु पदार्थज्ञाने ज्ञानांशाः । तत्रानन्तधर्मात्मके वस्तुन्येकधर्मोन्नयनं ज्ञानं नयः तथा "रत्नाकरे" **नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशस्तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः,** (प्र.न.तत्त्वा. ७.१) **स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापी पुनर्नयाभासः,** (प्रमा. ७.२) स व्याससमासाभ्यां द्विप्रकारः । व्यासतोऽनेकविकल्पः समासतो द्विभेदः । द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकः । तत्र द्रव्यार्थिकश्चतुर्धा (१) नैगम, (२) संग्रह, (३) व्यवहार, (४) ऋजुसूत्रभेदात् । पर्यायार्थिकस्त्रिधा (१) शब्द (२) समभिरूढ (३) एवंभूतभेदात् ।

विकल्पान्तरे ऋजुसूत्रस्य पर्यायार्थिकताप्यस्ति । स नैगमस्त्रिप्रकारः आरोपांशसङ्कल्पभेदात्, विशेषावश्यके तूपचारस्य भिन्नग्रहणात् चतुर्विधः । न एके गमा आशयविशेषा यस्य स नैगमः । तत्र चतुःप्रकार आरोपः द्रव्यारोप-गुणारोप-कालारोप-कारणाद्यारोपभेदात् । तत्र गुणे द्रव्यारोपः पञ्चास्तिकायवर्तनागुणस्य कालस्य द्रव्यकथनं एतद् गुणे द्रव्यारोपः । १ ज्ञानमेवात्मा अत्र द्रव्ये गुणारोपः । २

वर्तमानकाले अतीतकालारोपः अद्य दीपोत्सवे वीरनिर्वाणं, वर्तमानकाले अनागतकालारोपः अद्यैव पद्मनाभनिर्वाणं, एवं षड्भेदाः । कारणे कार्यारोपः बाह्यक्रियायाः धर्मत्वं धर्मकारणस्य धर्मत्वेन कथनं । सङ्कल्पो द्विविधः स्वपरिणामरूपः कार्यान्तरपरिणामश्च । अंशोऽपि द्विविधः भिन्नोऽभिन्नश्चेत्यादि शतभेदो नैगमः ।

सामान्यवस्तुसत्तासङ्ग्राहकः सङ्ग्रहः । स द्विविधः सामान्यसङ्ग्रहो विशेषसङ्ग्रहश्च, । सामान्यसङ्ग्रहो द्विविधः मूलत उत्तरतश्च । मूलतोऽस्तित्वादिभेदतः षड्विधः, उत्तरतो जातिसमुदायभेदरूपः । जातितः गवि गोत्वं, घटे घटत्वं, वनस्पतौ वनस्पतित्वं । समुदायतो सहकारात्मके वने सहकारवनं, मनुष्यसमूहे मनुष्यवृंदं, इत्यादि समुदायरूपः । अथवा द्रव्यमिति सामान्यसङ्ग्रहः, जीव इति विशेषसङ्ग्रहः । तथा विशेषावश्यके –

"संगहणं संगिण्हइ संगिज्झंते व तेण जं भेया ।
तो संगहोत्ति संगहियपिंडियत्थं वओ जस्स"।। (विशे. २२०३)

संग्रहणं सामान्यरूपतया सर्ववस्तुनामाक्रोडनं सङ्ग्रहः । अथवा सामान्यरूपतया सर्वं गृह्णातीति सङ्ग्रहः । अथवा सर्वेऽपि भेदाः सामान्यरूपतया सङ्गृह्यन्ते अनेनेति सङ्ग्रहः । अथवा सङ्गृहीतं पिण्डितं तदेवार्थोऽभिधेयं यस्य तत् सङ्गृहीतपिण्डितार्थं एवंभूतं वचो यस्य सङ्ग्रहस्येति । तत्र सङ्गृहीतपिण्डितं तत् किमुच्यते इत्याह –

संगहीयमागहीयं संपिंडियमेगजाइमाणीयं ।
संगहीयमणुगमो वा वइरेगो पिंडियं भणियं ।। (विशे. २२०४)

सामान्याभिमुख्येन ग्रहणं संगृहीतसङ्ग्रह उच्यते, पिण्डितं त्वकेजातिमानीतमभिधीयते पिण्डितसङ्ग्रहः । अथ सर्वव्यक्तिष्वनुगतस्य सामान्यस्य प्रतिपादनमनुगमसङ्ग्रहोऽभिधीयते । व्यतिरेकस्तु तदितरधर्मनिषेधाद् ग्राह्यधर्मसङ्ग्रहकारकं व्यतिरेकसङ्ग्रहो भण्यते यथा जीवो जीवः इति निषेधे जीवसङ्ग्रह एव जीवाः । अतः १ सङ्ग्रह २ पिण्डितार्थ ३ अनुगम ४ व्यतिरेकभेदाच्चतुर्विधः । अथवा स्वसत्ताख्यं महासामान्यं संगृह्णाति इतरस्तु गोत्वादिकमवान्तरसामान्यं पिण्डितार्थमभिधीयते महासत्तारूपं अवान्तरसत्तारूपं

"एगं निच्चं निरवयवमक्किरियं सव्वगं च सामन्नं" (विशे. २२०६)

एतद् महासामान्यं गवि गोत्वादिकमवान्तरसामान्यमिति संग्रहः ।

संग्रहगृहीतवस्तुनोः भेदान्तरेण विभजनं व्यवहरणं प्रवर्त्तनं वा व्यवहारः । स द्विविधः शुद्धोऽशुद्धश्च । शुद्धो द्विविधः वस्तुगतव्यवहारः धर्मास्तिकायादिद्रव्याणां स्वस्वचलनसहकारादिजीवस्य लोकालोकादिज्ञानादिरूपः स्वसम्पूर्णपरमात्मभाव-साधनरूपो गुणसाधकावस्थारूपः गुणश्रेण्यारोहादिसाधनशुद्धव्यवहारः । अशुद्धोऽपि द्विविधः सद्भूतासद्भूतभेदात् । सद्भूतव्यवहारो ज्ञानादिगुणः परस्परं भिन्नः, असद्भूतव्यवहारः कषायात्मादि मनुष्योऽहं देवोऽहं । सोऽपि द्विविधः संश्लेषिताशुद्धव्यवहारः शरीरं मम अहं शरीरी । असंश्लेषितासद्भूतव्यवहारः पुत्रकलत्रादि मम । तौ च उपचरितानुपचरितव्यवहारभेदात् द्विविधौ । तथा च विशेषावश्यके -

ववहरणं ववहरए स तेण ववहीरए व सामन्नं ।
ववहारपरो व जओ विसेसओ तेण ववहारो ।।(विशे. २२१२)

व्यवहरणं व्यवहारः व्यवहरति स इति वा व्यवहारः, विशेषतो व्यवह्रियते निराक्रियते सामान्यं तेनेति व्यवहारः, लोको व्यवहारपरो वा विशेषतो यस्मात्तेन व्यवहारः । न व्यवहारास्व[रस्य] स्वधर्मप्रवर्तितेन ऋते सामान्यमिति स्वगुणप्रवृत्तिरूपव्यवहारस्यैव वस्तुत्वं, तमंतरेण तद्भावात् (?)। स द्विविधः विभजनप्रवृत्तिभेदात् । प्रवृत्तिव्यवहारस्त्रिविधः वस्तुप्रवृत्तिः साधनप्रवृत्तिः लोकप्रवृत्तिश्च । साधनप्रवृत्तिश्च त्रिधाः लोकोत्तर-लौकिक-कुप्रावचनिकभेदात् इति व्यवहारनयः श्री विशेषावश्यके ।।

उज्जुं रुजुं सुयं नाणमुज्जुसुयमस्स सोऽयमुज्जुसुओ ।
सुत्तयइ वा जमुज्जुं वत्थुं तेणुज्जुसुत्तोत्ति ।। (विशे. २२२२)

उज्जुंति । ऋजु श्रुतं - सुज्ञानं बोधरूपं, ततश्च ऋजु अवक्रं श्रुतमस्य सोऽयमृजुश्रुतं । वा अथवा, ऋजु अवक्रं वस्तु सूत्रयतीति ऋजुसूत्र इति । कथं पुनरेतदभ्युपगतस्य वस्तुनोऽवक्रत्वमित्याह -

पच्चुपन्नं संपयमुप्पन्नं जं च जस्स पत्तेयं ।
तं रुजु तदेव तस्सत्थि उवकम्मन्नंति जमसंतं ।।(विशे. २२२३)

यत्सांप्रतमुत्पन्नं वर्तमानकालीनं वस्तु, यच्च यस्य प्रत्येकमात्मीयं तदे, तदुभयस्वरूपं वस्तु प्रत्युत्पन्नमुच्यते तदेवासौ नयः ऋजुः प्रतिपद्यते तदेव च

वर्तमानकालीनं वस्तु तस्यर्जुसूत्रस्यास्ति, अन्यत्र शेषातीतानागतं परकीयं च यद्यस्मात् असदविद्यमानं ततो असत्त्वादेव तद्वक्रमिच्छत्यसाविति । अत एव उक्तं निर्युक्तिकृता –

"**पच्चुपन्नगाही उज्जुसुयनयविही मुणेयव्वोत्ति**" (आ.नि. ५७)

यतः कालत्रये वर्तमानमंतरेण वस्तुत्वं उक्तं च यतः अतीतं (नष्टं) अनागतं भविष्यति न सांप्रतं तदवस्तु इति वर्तमानस्यैव वस्तुत्वमिति । अतीतस्य कारणता अनागतस्य कार्यता जन्यजनकभावेन प्रवर्तते अतः ऋजुसूत्रं वर्तमानग्राहकं । तद् वर्तमानं नामादिचतुःप्रकारं ग्राह्यम् ।।

"शप् आक्रोशे" शपनमाह्वानमिति शब्दः, शपतीति वा आह्वयतीति शब्दः, शप्यते आहूयते वस्तु अनेनेति शब्दः, तस्य शब्दस्य यो वाच्योऽर्थस्तत्परिग्रहात्त-त्प्रधानत्वान्नयः शब्दः, यथा कृतकृत्वादित्यादिकः पंचम्यन्तः शब्दोऽपि हेतुः । अर्थरूपं कृतकत्वमनित्यगमकत्वान्मुख्यतया हेतुरुच्यते उपचारतस्तु तद्वाचकः कृतकत्वशब्दो हेतुरभिधीयते, एवमिहापि शब्दवाच्यार्थ-परिग्रहादुपचारेण नयोऽपि शब्दो व्यपदिश्यते इति भावः । यथा ऋजुसूत्रनयस्याभीष्टं प्रत्युत्पन्नं वर्त्तमानं तथैव इच्छत्यसौ शब्दनयः । यद्यस्मात् पृथुबुध्नोदरकलितं मृन्मयं जलाहरणादिक्रियाक्षमं प्रसिद्धघटरूपं भावघटमेवेच्छत्यसौ न तु शेषान् नामस्थापनाद्रव्यरूपान् त्रीन् घटानिति । शब्दार्थप्रधानो ह्येष नयः, चेष्टालक्षणश्च घटशब्दार्थो, "घट चेष्टायां" 'घटते इति घटः' अतो जलाहरणादिचेष्टां कुर्वन् घटः । अतश्चतुरोऽपि नामादिघटानिच्छति । ऋजुसूत्राद्विशेषिततरं वस्तु इच्छति असौ । शब्दार्थोपपत्तेर्भावघटस्यैवानेनाभ्युपगमादिति । अथवा ऋजुसूत्रात् शब्दनयः विशेषिततरः, ऋजुसूत्रे सामान्येन घटोऽभिप्रेतः, शब्देन च सद्भावादिभिरनेक-धर्मैरभिप्रेत इति ।

जं जं सण्णं भासइ तं तं चिय समभिरोहए जम्हा ।
सण्णंतरत्थविमुहो, तओ नओ समभिरूढोत्ति ।। (विशे. २२३६)

यां यां संज्ञां घटादिलक्षणां भाषते वदति तां तामेव यस्मात् संज्ञान्तरार्थविमुखः समभिरूढो नयः नानार्थनामा एव भाषते । यदि एकपर्यायमपेक्ष्य सर्वपर्यायवाचकत्वं

तथा एकपर्यायाणां सङ्करः पर्यायसङ्करे च वस्तुसङ्करो भवत्येवेति मा भूत्संकरदोषः, अतः पर्यायान्तरानपेक्ष एव समभिरूढनय इति ।।

एवं जह सद्दत्थो संतो भूओ तदन्नहाभूओ ।
तेणेवंभूयनओ, तद्दत्थपरो विसेसेणं ।। (विशे. २२५१)

एवं यथा घट चेष्टायामित्यादिरूपेण शब्दार्थो व्यवस्थितः **'तहत्ति'**, तथैव यो वर्त्तते घटादिकोऽर्थः स एवं सन् भूतो विद्यमानः **"तदन्नहाभूओत्ति"** यस्तु तदन्यथा शब्दार्थोल्लंघनेन वर्तते स तत्त्वतो घटाद्यर्थोपि न भवति किंत्वभूतोऽविद्यमानः येनैवं मन्यते तेन कारणेन शब्दनयसमभिरूढनयाभ्यां सकाशादेवंभूतनयो विशेषेण शब्दार्थतत्परः । अयं हि योषिन्मस्तकारूढं जलाहरणादिक्रियानिमित्तं घटमानमेव चेष्टमानमेव घटं मन्यते, न तु गृहकोणादिव्यवस्थितं अचेष्टनादित्येवं विशेषतः शब्दार्थतत्परोऽयमिति ।

वंजणमत्थेणत्थं च वंजणेणोभयं विसेसेइ ।
जह घडसद्दं चेट्ठावया तहा तंपि तेणेव ।। (विशे. २२५२)

व्यज्यते अर्थोऽनेनेति व्यञ्जनं वाचकः शब्दो घटादिस्तं चेष्टावता एतद्वाच्येनार्थेन विशिनष्टि स एव घटशब्दो यश्चेष्टावन्तमर्थं प्रतिपादयति, नान्यम्, इत्येवं शब्दमर्थेन नैयत्ये व्यवस्थापयतीत्यर्थः । तथार्थमप्युक्तलक्षणमभिहितरूपेण व्यञ्जनेन विशेषयति, चेष्टापि सैव या घटशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धा योषिन्मस्तकारूढस्य जलाहरणादिक्रियारूपा, न तु स्थानभरणक्रियात्मिका, इत्येवमर्थं शब्देन नैयत्ये स्थापयतीत्यर्थः । इत्येवमुभयं विशेषयति, शब्दमर्थेनार्थञ्च शब्देन नैयत्ये स्थापयतीत्यर्थः । एतदेवाह-यदा योषिन्मस्तकारूढश्चेष्टावानर्थो घटशब्देनोच्यते स घटलक्षणोऽर्थः स च तद्वाचको घटशब्दः अन्यदा तु वस्त्वंतरस्येव तच्चेष्टाभावादघटत्वं, घटध्वनेश्चावाचकत्वमित्येवमुभयविशेषक एवंभूतनय इति ।।

एवमेव स्याद्वादरत्नाकरात् पुनर्लक्षणत उच्यते । नीयते येन श्रुताख्यप्रामाण्यविषयीकृतस्यार्थस्यांशस्तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः (प्रमा. ७.१) । स्वाभिप्रेतादंशादपरांशापलापी पुनर्नयाभासः (७.२) । स समासतः द्विभेदः द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकः । आद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रभेदाच्चतुर्द्धा । केचित् ऋजुसूत्रं पर्यायार्थिकं वदन्ति चेतनां[रां ?]शत्वेन विकल्पस्य ऋजुसूत्रे ग्रहणात् ।

श्रीवीरशासने मुख्यतः परिणतिचक्रस्यैव भावधर्मत्वेनांगीकारात् तेषां ऋजुसूत्रः द्रव्यनये एव । धर्मयोर्धर्मिणो धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनारोपसङ्कल्पांशादि-भावेनानेकगमग्रहणात्मको नैगमः । सत्चैतन्यमात्मनीति धर्मयोः, गुणपर्यायवत् द्रव्यमिति धर्मधर्मिणोः, क्षणमेकं सुखी विषयासक्तो जीव इति धर्मधर्मिणोः, सूक्ष्मनिगोदीजीवः सिद्धसमानसत्ताकः अयोगिनः संसारीति अंशग्राही नैगमः, (७.७-८.९.१०) धर्मद्वयादीनामेकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिर्नैगमाभासः । (७.११) यथाऽऽत्मनि सत्त्वचैतन्ये परस्परं भिन्ने । (७.१२)

सामान्यमात्रग्राही सत्तापरामर्शरूपः-सङ्ग्रहः (७.१३)। स परापरभेदात् द्विविधः । तत्र शुद्धद्रव्यसन्मात्रग्राहकः परसंग्रहः, चेतनालक्षणो जीवः इत्यपरसङ्ग्रहः । सत्ताद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान् निराचक्षाणः सङ्ग्रहाभासः (७.१७) । सङ्ग्रहस्यैकत्वेन **'एगे आया'** इत्यभिज्ञानात् सत्ताद्वैत एव आत्मा, ततः सर्वविशेषाणां तदितराणां जीवाजीवादिद्रव्याणामदर्शनात् द्रव्यत्वादिन्यवान्तर-सामान्यानि मन्वानस्तद्भेदेषु गजनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसंग्रहः (७.१९) धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवद्रव्याणामैक्यं द्रव्यत्वाभेदादित्यादि (७.२०) द्रव्यत्वादिकं प्रतिजानानस्तद्विशेषान् निन्हनुवानस्तदाभासः (७.२१)यथा द्रव्यमेव तत्त्वं ततोऽर्थान्तरभूतानां द्रव्याणामनुपलब्धेरिति । (७.२२) इति संग्रहः ।

संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसन्धिना क्रियते स व्यवहारः, (७.२३) यथा यत् सत् तत् द्रव्यं पर्यायो वेत्यादि (७.२४) यः, पुनरपारमार्थिकं द्रव्यपर्यायप्रविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभासः, (७.२५) यथा चार्वाकदर्शनमिति (७.२६) व्यवहारदुर्नयः ।

ऋजु वर्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रप्राधान्यतः सूत्रयन् अभिप्रायः ऋजुसूत्रः(७.२८) । ज्ञानोपयुक्तः ज्ञानी, दर्शनोपयुक्तः दर्शनी, कषायोपयुक्तः कषायी, समतोपयुक्तः सामायिकी, । वर्तमानापलापी तदाभासः यथा तथागतमतम् (७.३१) इति ।।

एकपर्यायप्रागभावेन तिरोभाविपर्यायग्राहकः शब्दनयः, कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः, (७.३२) जलाहरणादिक्रियासमर्थ एव घटः । न मृत्पिण्डादिः । तत्त्वार्थवृत्तौ शब्दवशादर्थप्रतिपत्तिः तत्कार्ये धर्मे वर्तमानवस्तु

तथामन्वानः शब्दनयः शब्दानुरूपं अर्थपरिणतं द्रव्यमिच्छति त्रिकालत्रिलिंग-त्रिवचनप्रत्ययप्रकृतिभिः समन्वितमर्थमिच्छति । तद् भेदेन तस्य तमेव समर्थमानस्तदाभासः । (७.३४)

एकार्थावलंबिपर्यायशब्देषु निरूक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः । (७.३६) यथा इन्दनादिन्द्रः, शकनाच्छक्रः, पुर्दारणात् पुरंदरः इत्यादिषु (७.३७) । पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभासः, (७.३८) यथा इन्द्रः शक्रः, पुरंदर इत्यादि भिन्नाभिधेयाः । (७.३९)

एवं भिन्नशब्दवाच्यत्वाच्छब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविशिष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवंभूतः (७.४०)। यथा इन्दनमनुभवन्निंद्रः, शकनाच्छक्रः, (७.४१) क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपंस्तदाभासः (७.४२) । तथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यं घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्त भूतक्रियाशून्यत्वात् पटवदित्यादिः । (७-४३)

अत्र आद्यनयचतुष्टयमविशुद्धं पदार्थप्ररूपणाप्रवणत्वात् अर्थनयाः, नामद्रव्यत्वसामान्यरूपा नयाः । शब्दादयो विशुद्धनयाः शब्दावलंबार्थमुख्यत्वाद् यतस्ते तत्त्वभेदद्वारेण वचनमिच्छन्ति । शब्दनयस्तावत् समानलिंगानां समानवचनानां शब्दानां इन्द्रशक्रपुरंदरादीनां वाच्यं भावार्थमेवाभिन्नमभ्युपैति, न जातुचित् भिन्नवचनं वा शब्दं, स्त्री दाराः तथा आपो जलमिति । समभिरूढो वस्तुप्रत्यर्थं शब्दनिवेशादिंद्रशक्रादीनां पर्यायशब्दत्वे न प्रतिजानीते अत्यंतभिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वादभिन्नार्थत्वमेवानुमन्यते घटशक्रादिशब्दानामिवेति । एवंभूतः पुनर्यथा सद्भाववस्तुवचनगोचरं आपृच्छतीति चेष्टाविशिष्ट एवार्थो घटशब्दवाच्यः चित्रालेख्यतोपयोगपरिणतश्च चित्रकारः । चेष्टारहितस्तिष्ठन् घटो न घटः, तच्छब्दार्थरहितत्वात् कूटशब्दवाच्यार्थवन्नापि भुंजानः शयानो वा चित्रकाराभिधानाभिधेयः चित्रज्ञानोपयोगपरिणतिशून्यत्वाद्गोपालवदेवमभेद-भेदार्थवाचिनो नैकैकशब्दवाच्यार्थावलंबिनश्च शब्दप्रधानार्थोपसर्जनाच्छब्दनया इति तत्त्वार्थवृत्तौ (सू. १.३४)' । एतेषु नैगमः सामान्यविशेषोभयग्राहकः, व्यवहारः विशेषग्राहकः द्रव्यार्थावलंबी ऋजुसूत्रो विशेषग्राहकः । एवं एते चत्वारो द्रव्यनयाः शब्दादयः पर्यायार्थिकविशेषावलंबिभावनयाश्चेति शब्दादयो नामस्थापनाद्रव्यनिक्षेपापवस्तुतया जानन्ति परस्परं सापेक्षाः सम्यक्दर्शनिप्रतिनय-भेदानां शतं तेन सप्तशतं नयानामिति अनुयोगद्वारोक्तत्वात् ज्ञेयं ।

पूर्वपूर्वनयः प्रचुरगोचरः । परस्तु परिमितविषयः (७.४६)। सन्मात्रगोचरात् संग्रहात् नैगमो भावाभावभूमिकत्वाद् भूरिविषयः, (७.४७) सद्विशेषप्रकाशकाद् व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद् बहुविषयः । वर्तमानविषयाद् ऋजुसूत्राद् व्यवहारस्त्रिकालविषयत्वात् बहुविषयः (७.४९) कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदर्शनात् शब्दाद् ऋजुसूत्रो विपरीतत्वान्महार्थः, (७.५०) प्रतिपर्यायशब्द-मर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढाच्छब्दः प्रभूतविषयः (७.५१) प्रतिक्रियं भिन्नार्थं प्रतिजानानाद् एवंभूतात् समभिरूढः महान् गोचरः । (७.५२)

नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभंगीमनुव्रजति । (७.५३) अंशग्राही नैगमः, सत्ताग्राही संग्रहः, गुणप्रवृत्तिलोकप्रवृत्तिग्राही व्यवहारः, कारणपरिणामग्राही ऋजुसूत्रः, व्यक्तकार्यग्राही शब्दः, पर्यायान्तरभिन्नकार्यग्राही समभिरूढः, तत्परिणमनमुख्यकार्यग्राही एवंभूतः, इत्याद्यनेकरूपो नयप्रचारः । **"जावंतिया वयणपहा तावंतिया चेव हुंति नयवाया"** इति वचनात् । उक्तो नयाधिकारः ।

सकलनयसंग्राहकम् प्रमाणं, प्रमाता आत्मा प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धः चैतन्यस्वरूपपरिणामी कर्ता साक्षाद् भोक्ता स्वदेहपरिणामः प्रतिक्षेत्रभिन्नत्वेनैव पञ्चकारणसामग्रीतः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसाधनात् साधयति सिद्धिम् । स्वपर-व्यवसायिज्ञानं प्रमाणम् । तद् द्विविधं प्रत्यक्षपरोक्षभेदात्स्पष्टं प्रत्यक्षं परोक्षमन्यत् अथवा आत्मोपयोगत इन्द्रियद्वारा प्रवर्तते यज्ज्ञानं तत्प्रत्यक्षं, अवधिमनःपर्यायौ देशप्रत्यक्षौ, केवलज्ञानं तु सकलप्रत्यक्षं, मतिश्रुते परोक्षे । तच्चतुर्विधं अनुमानोपमानागमार्थापत्तिभेदात्, लिङ्गपरामर्शोऽनुमानं, लिङ्गं चाविनाभूतवस्तुकं नियतं ज्ञेयं, यथा गिरिगुहरादौ व्योमावलम्बिधूम्रलेखां दृष्ट्वा अनुमानं करोति, पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्, यत्र धूमस्तत्राग्निः, यथा महानसं, एवं पञ्चावयवशुद्धं अनुमानं यथार्थज्ञानकारणं, सादृश्यावलम्बनेनाज्ञातवस्तुनां यज्ज्ञानं उपमानज्ञानं यथा गौस्तथा गवयः गौसादृश्येन अदृष्टगवयाकारज्ञानं उपमानज्ञानं । यथार्थोपदेष्टा पुरुष आप्तः स उत्कृष्टतो वीतरागः सर्वज्ञ एव, आप्तोक्तं वाक्यं आगमः, रागद्वेषाज्ञानभयादिदोषरहितत्त्वात् अर्हतः वाक्यं आगमः, तदनुयायि पूर्वापराविरुद्धं मिथ्यात्वासंयमकषायभ्रांतिरहितं स्याद्वादोपेतं वाक्यं अन्येषां शिष्टानामपि वाक्यं आगमः । लिङ्गग्रहणाद् ज्ञेयज्ञानोपकारकं अर्थापत्तिप्रमाणं, यथा पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते अर्थाद्रात्रौ भुङ्क्ते एव इत्यादि प्रमाणपरिपाटीगृहीत जीवाजीवस्वरूपः सम्यग्ज्ञानी उच्यते ।

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं । यथार्थहेयोपादेयपरीक्षायुक्तज्ञानं सम्यग्ज्ञानं । स्वरूपरमणपरपरित्यागरूपं चारित्रं । एतद्रत्नत्रयीरूपमोक्षमार्गसाधनात्साध्यसिद्धिः इत्यनेनात्मनः स्वीयं स्वरूपं सम्यग्ज्ञानं ज्ञानप्रकर्ष एवात्मलाभः ज्ञानदर्शनोपयोग लक्षण एवात्मा । छद्मस्थानां च प्रथमं दर्शनोपयोगः केवलीनां प्रथम ज्ञानोपयोगः पश्चाद्दर्शनोपयोगः । सहकारिकर्तृत्वप्रयोगात् उपयोगसहकारेणैव शेषगुणानां प्रवृत्त्यभ्युपगमात् । इत्येवं स्वतत्त्वज्ञानकरणे स्वरूपोपादानं तथा स्वरूपरमणध्यानैकत्वेनैव सिद्धिः ।।

तत्र प्रथमतः ग्रन्थिभेदं कृत्वा शुद्धश्रद्धानज्ञानी द्वादशकषायोपशमः स्वरूपैकत्वध्यानपरिणतेन क्षपकश्रेणीपरिपाटीकृतघातिकर्मक्षयःअवाप्तकेवल-ज्ञानदर्शनः, योगनिरोधात् अयोगीभावमापन्नः, अघातिकर्मक्षयानन्तरं समय एवास्पर्शवद्गत्या एकान्तिकात्यन्तिकानाबाधनिरूपाधिनिरूपचरितानायासा विनाशि-संपूर्णात्मशक्तिप्राग्भावलक्षणं सुखमनुभवन् सिध्यति साद्यनंतं कालं तिष्ठति परमात्मा इति एतत् कार्यं सर्वं भव्यानाम् ।

गच्छे श्री कोटिकाख्ये विशदखरतरे ज्ञानपात्रा महान्तः,
सूरि श्री जैनचन्द्राः गुरुतरगणभृत्शिष्यमुखा विनीताः ।

श्रीमत्पुण्यप्रधानाः सुमतिजलनिधिः पाठकाः साधुरंगाः,
तच्छिष्याः पाठकेन्द्राः श्रुतरससरसिका राजसारा मुनीन्द्राः ।।१।।

तच्चरणांबुजसेवालीनाः श्रीज्ञानधर्मधराः ।
तत्शिष्यपाठकोत्तमदीपचन्द्रा श्रुतरसज्ञाः ।।२।।

नयचक्रलेशमेतत्तेषां शिष्येण देवचन्द्रेण ।
स्वपरावबोधनार्थं कृतं सदभ्यासवृद्ध्यर्थं ।।३।।

शोधयन्तु सुधियः कृपापराः, शुद्धतत्त्वरसिकाश्च पठंतु ।
साधनेन कृतसिद्धिसत्सुखाः परममंगलभावमश्नुते ।।४।।

।। इति श्री नयचक्रविवरणं समाप्तम् ।।

પ્રવચન પ્રકાશન

સાહિત્ય

૧) આજનો નિયમ (પાંચ આવૃત્તિ)
૨) તત્ત્વાર્થાધિગમસૂત્રમ્ (સંસ્કૃત)
૩) સૂરિમંત્રકલ્પસંદોહ
૪) જૈન સાહિત્યનો સંક્ષિપ્ત ઇતિહાસ
ાસ પૂરે પ્રભુ પાસ
સ્તુતિ સરિતા (ચાર આવૃત્તિ)
૭) ષોડશાધિકારપ્રકરણમ્-સટીકમ્ (સંસ્કૃત)
૮) ષોડશાધિકારપ્રકણમ્ -મૂલમાત્રમ્ (સંસ્કૃત)
૯) મરણં મંગલં મમ (બીજી આવૃત્તિ)
૧૦) ફૂલમાં ફોર્યા રામ (બીજી આવૃત્તિ)
૧૧) આચારોપદેશ (હિન્દી અનુવાદ)
૧૨) પૂનાથી કરાડ સુધીનાં પ્રવચનો
૧૩) રત્નાકરાવતારિકા (સંસ્કૃત)
૧૪) નરનારાયણાનન્દમહાકાવ્યમ્ (સંસ્કૃત)
૧૫) ઝાકળના સૂરજ
૧૬) શ્રાવકધર્મવિધિપ્રકરણમ્ (સંસ્કૃત)
૧૭) ષડ્દર્શન સમુચ્ચય (સંસ્કૃત - અનુવાદ)
૧૮) જાગો રે માબાપ (હિન્દી)
૧૯) ગુણાનુવાદ પ્રવચન
૨૦) રામચંદ્રં નમામિ
૨૧) પાતંજલયોગ દર્શનમ્- સટીકમ્ (સંસ્કૃત)
૨૨) સ્યાદ્‌વાદમંજરી (સંસ્કૃત)
૨૩) કારિકાવલી (સંસ્કૃત)
૨૪) નયામૃતમ્ (સંસ્કૃત)
૨૫) યોગદ્રષ્ટિ સમુચ્ચય (સંસ્કૃત)

આગામી સાહિત્ય

૨૬) પ્રભુ ! ક્યારે કૃપા કરશો
૨૭) મોતીએ બાંધી પાળ
૨૮) સાધુ તો ચલતા ભલા
૨૯) બાળકોના જીવવિચાર
૩૦) પર્વ પ્રવચન (બીજી આવૃત્તિ)
૩૧) બંધશતક - વૃત્તિ (સંસ્કૃત)
૩૨) સુરસુંદરીચરિઅં (સંસ્કૃત)
૩૩) કાવ્યાનુશાસનમ્ (સંસ્કૃત)

પ્રવચન પ્રકાશન

આજ્ઞાધર્મથી અનુબદ્ધ અને શબ્દશ્રીથી સમૃદ્ધ સાહિત્યનું પ્રકાશન કરવાનો
મુદ્રાલેખ ધરાવતાં પ્રવચન પ્રકાશનને સમુદાર સહયોગ આપનાર

પ્રવચન સ્તંભ

શ્રી હેમતલાલ છગનલાલ મહેતા પરિવાર - કલકત્તા

શ્રીમતી પ્રભાબેન નંદલાલ શેઠ - મુંબઇ

યુવા સંસ્કાર ગ્રૂપ - નાગપુર

પ્રવચન પ્રેમી

શ્રી સુધીરભાઇ કે. ભણશાળી - કલકત્તા

શ્રી કુમારપાળ દિનેશકુમાર સમદડિયા - મંચર

શ્રી પ્રકાશ બાબુલાલ, દેવેન્દ્ર, પરાગ, પ્રિતમ શાહ - મંચર

પ્રવચન ભક્ત

શ્રી ચંદુલાલ નેમચંદ મહેતા - કલકત્તા

શ્રી છોટાલાલ દેવચંદ મહેતા - કલકત્તા

શ્રી ખુશાલચંદ વનેચંદ શાહ - કલકત્તા

શ્રી રસીકલાલ વાડીલાલ શાહ - કલકત્તા

શ્રી કસ્તૂરચંદ નાનચંદ શાહ - કલકત્તા

શ્રી ગુલાબચંદ તારાચંદજી કોચર - નાગપુર

શ્રીમતી સમજુબેન મણીલાલ દોશી પરિવાર - નાગપુર

ઉંઝાનિવાસી શ્રી નટવરલાલ પોપટલાલ મહેતા - નાગપુર

શ્રી પ્રવીણચંદ્ર વાલચંદજી શેઠ (ડીસાવાલા) - નાસિક

શ્રી ચંદ્રશેખર નરેંદ્રકુમાર ચોપડા - વરોરા

શ્રી સુભાષકુમાર વાડીલાલ શાહ - કરાડ

શ્રીમતી હસમુખબેન જયંતીલાલ શાહ (પૃથ્વી) - વાપી

આ ધર્માનુરાગી મહાનુભાવોની અમે હાર્દિક અનુમોદના કરીએ છીએ.

શ્રી વિજયમહોદયસૂરિ ગ્રંથમાલા

૪

नमो
पवयणस्स
प्रवचनम्

પ્રવચન પ્રકાશન